हिन्दी त्रैमासिक
विवेक-ज्योति
वर्ष २९ अंक १

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित
हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी-फरवरी-मार्च
◆ १९९७ ◆

प्रबन्ध सम्पादक तथा व्यवस्थापक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

वार्षिक २०/- | वर्ष ३५ अंक १ | एक प्रति ६/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ३००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर - ४९२ ००१ (म.प्र.)
दूरभाष . २५२६९, २४९५९, २४११९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(११० वीं तालिका)

३९९७. श्री अरुण कुमार अग्रवाल, वाराणसी (उ.प्र.)
३९९८. श्री हाकिम सिंह ठाकुर, दमोह (म.प्र.)
३९९९. श्री आकाश चौधरी, दमोह (म.प्र.)
४०००. प्राचार्य, शा. महारानी लक्ष्मीबाई कन्या उ. मा. शाला, दमोह (म.प्र.)
४००१. सचिव, आदर्श शिक्षा समिति, दमोह (म.प्र.)
४००२. श्री तुलाराम यादव, सागर.(म.प्र.)
४००३. प्राचार्य, नव जागृति उ. मा. शाला, दमोह (म.प्र.)
४००४ श्री बी.एन. शर्मा, दमोह (म.प्र.)
४००५. प्राचार्य, रघुवर प्रसाद मोदी, राष्ट्रीय जैन उ. मा. शा., दमोह (म.प्र.)
४००६. प्राचार्य, महाराणा प्रताप उ. मा. शाला, दमोह (म.प्र.)
४००७. श्री जी. पी. खरे, दमोह (म.प्र.)
४००८. श्री डी. पी. कपिल, दमोह (म.प्र.)
४००९. श्री विशाल चंद जैन, दमोह (म.प्र.)
४०१०. डॉ. ए. के. चतुर्वेदी, दमोह (म.प्र.)
४०११. श्री मनसुखलाल कपुरचंद गुजराती, दमोह (म.प्र.)
४०१२. प्राचार्य, शा. पॉलीटेकनिक महाविद्यालय, दमोह (म.प्र.)
४०१३. श्री वीरेन्द्र कुमार तिवारी, अर्जुनी, राजनांदगांव (म.प्र.)
४०१४. श्री पुनीत राम डडसेना, गडबेड़ा, रायपुर (म.प्र.)
४०१५. प्राचार्य, केन्द्रीय विद्यालय, देहरादून (उ.प्र.)
४०१६. श्री आर.एन. राव, कोराडी, नागपुर (महा.)
४०१७. श्री अनुप कुमार, ज्वालापुर, हरिद्वार (उ.प्र.)
४०१८. श्री दीपक कपूर, बैतुल (म.प्र.)
४०१९. श्री जगदीश वर्मा, बैतुल (म.प्र.)
४०२०. श्री सीताराम सोनी, बैतुल (म.प्र.)
४०२१. श्री राजकुमार झोड़, छिंदवाड़ा (म.प्र.)
४०२२ श्री ज्योति जोशी, बैतुल (म.प्र.)
४०२३. श्री हालम सिंह रघुवंशी, बैतुल (म.प्र.)
४०२४. श्री हरिहर राव उपासे, बैतुल (म.प्र.)
४०२५. श्री नेहरू जागरे, बैतुल (म.प्र.)
४०२६. श्री डी. एस. पाण्डेय, बैतुल (म.प्र.)
४०२७. श्री प्रदीप कुमार, बैतुल (म.प्र.)

एजेन्ट चाहिए !

'विवेक-ज्योति' के स्वस्थ, उदात्त एवं शक्तिदायी विचारों के व्यापक प्रचार एवं प्रसार को व्यवस्थित करने हेतु स्थान-स्थान पर इसकी नयी एजेन्सियाँ देने का निश्चय किया गया है। हमारे इस महत् कार्य में सहयोग देने के लिए कोई भी अपना पंजीकरण करा सकता है। एजेन्सी के नियमों तथा शर्तों की जानकारी प्राप्त करने के लिए लिखें—

व्यवस्थापक,
'विवेक-ज्योति कार्यालय'
पो. विवेकानन्द आश्रम, रायपुर - ४९२ ००१

प्रकाशन विषयक विवरण

(फार्म ४ रूल ८ के अनुसार)

१.	प्रकाशन का स्थान	-	रायपुर
२.	प्रकाशन की नियतकालिकता	-	त्रैमासिक
३-४.	मुद्रक एवं प्रकाशक	-	स्वामी सत्यरूपानन्द
५.	सम्पादक	-	स्वामी विदेहात्मानन्द
	राष्ट्रीयता	-	भारतीय
	पता	-	रामकृष्ण मिशन, रायपुर।
	स्वत्वाधिकारी	-	रामकृष्ण मिशन, बेलुड़मठ।

स्वामी भूतेशानन्द, स्वामी रंगानाथानन्द, स्वामी गहनानन्द, स्वामी आत्मस्थानन्द, स्वामी गीतानन्द, स्वामी प्रभानन्द, स्वामी हिरण्मयानन्द, स्वामी सत्यघनानन्द, स्वामी वन्दनानन्द, स्वामी तत्वबोधानन्द, स्वामी स्मरणानन्द, स्वामी मुमुक्षानन्द, स्वामी वागीशानन्द, स्वामी प्रमेयानन्द, स्वामी भजनानन्द, स्वामी गौतमानन्द, स्वामी शिवमयानन्द, स्वामी आत्मारामानन्द, स्वामी सुहितानन्द, स्वामी श्रीकरानन्द।

मैं स्वामी सत्यारूपानन्द घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य है।

(हस्ताक्षर)
स्वामी सत्यरूपानन्द

अनुक्रमणिका

मुद्रक . संयोग आफसेट प्रा.लि., बजरंगनगर, रायपुर, फोन . २६६०३

कम्पोजिंग : अल्फा लेज़र स्पॉट, गीतानगर, रायपुर, फोन . २३५७७

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी-फरवरी-मार्च

◆ १९९७ ◆

वर्ष ३५ अंक १

ब्रह्म ही शाश्वत है

आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्री-
रर्थाः संकल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूगाः।
कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतं
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोधिपारं तरीतुम्।

अन्वय — आयुः (जीवन) कल्लोल (जल की तरंगों के समान) -लोलं (चंचल है) यौवनश्रीः (यौवन की शोभा) कतिपय-दिवस-स्थायिनी अर्थाः (धन-धान्य आदि सम्पदा कुछ दिनों तक ही टिकनेवाली है) संकल्पकल्पा (संकल्पों के समान) भोगपूगाः (भोग्य विषयों का प्रवाह) घन (वर्षा) -समय (काल की) तडित् (विद्युन्माला) -विभ्रमा (स्फुरणशील है) प्रियाभिः (प्रियजनों का) यत् (जो) कण्ठ-आश्लेष-उपगूढं (गला पकड़कर आलिंगन) प्रणीतं (किया जाता है) तदपि च (वह भी) चिरं (स्थायी) न (नहीं होता), [अतएव हे मनुष्यो!] भव-भय-अम्भोधि-पारं (संसाररूपी भयंकर समुद्र के पार) तरीतुम् (उत्तीर्ण होने के लिए) ब्रह्मणि (एकमात्र ब्रह्म में ही) आसक्तचित्ताः (चित्त को लगानेवाले) भवत (होओ)।

अर्थ — जीवन जल की तरंगों के समान चंचल है, यौवन की शोभा कुछ दिनों तक ही टिकनेवाली है, धन-धान्यादि सम्पत्तियाँ मन में उठनेवाले संकल्प-विकल्पों के समान ही क्षणभंगुर हैं, भोग्य विषयों का प्रवाह वर्षाकाल में कभी कभी चमकनेवाली विद्युन्माला के समान है। अपने प्रियजनों का आलिंगन भी चिर काल तक नहीं रहता। अतः इस भयानक संसार-सागर को पार करने के लिए एकमात्र ब्रह्म में ही अपने चित्त को लगाओ।

— भर्तृहरिकृत **वैराग्यशकतम्, ३६**

श्रीरामकृष्ण वन्दना

'विदेह'

(भीमपलासी-कहरवा)

(तर्ज — वह शक्ति हमें दो दयानिधे)

हे रामकृष्ण मम अन्तर में, तुम आओ नित्य निवास करो।
निज चिन्मय रूप प्रगट करके, मोहान्धकार का नाश करो।१।

जग को निर्मल सुखमय करने, तुम आये हो फिर इस युग में,
कर धर्म प्रतिष्ठापन जग में, सबके भव-भय-पीड़ा हरने,
अपनी करुणा के सौरभ से, जन-जीवन वास-सुवास करो।२।

जीवन-पथ है अज्ञात मुझे, मैं भटक गया हूँ माया में,
विषमय विषयों से भ्रमित हुआ, थककर चरणों में आया मैं;
शरणागत दास तुम्हारा हूँ, सच कहता हूँ विश्वास करो।३।

तव पद्मपुंज सम चरणों में, चित मेरा प्रतिपल लगा रहे,
तुम मातु-पिता, मम बन्धु-सखा, यह बोध सतत ही बना रहे;
होठों पर चिर बसनेवाली, अपनी वह मधुमय हास करो।४।

तव कर्मों में ही मेरा यह, तन-मन-जीवन सब लगा रहे,
तव स्मरण-मनन में मेरा चित, प्रभु सदा-सर्वदा पगा रहे;
जब अन्त समय आ ही जाये, करके 'विदेह' निज पास करो।५।

अग्नि - मंत्र

(श्री आलासिंगा पेरूमल को लिखित)

संयुक्त राज्य अमेरिका
३० नवम्बर, १८९४

प्रिय आलासिंगा,

फोनोग्राफ और मेरा पत्र तुम्हें सुरक्षित अवस्था में मिल गये हैं, यह जानकर खुशी हुई। अब तुम्हें समाचार-पत्रों की और कटिंग भेजने की आवश्यकता नहीं। उनसे मेरे नाकों में दम हो गया है। वह सब अब बहुत हो चुका। इसलिए अब संस्था के कार्य में लग जाओ। मैंने एक संस्था न्यूयार्क में पहले ही शुरू कर दी है और उसके उपसभापति शीघ्र ही तुम्हें पत्र लिखेंगे। इन लोगों के साथ पत्र-व्यवहार करते रहो। शीघ्र ही दूसरे स्थानों में भी मैं ऐसी ही दो-चार संस्थाएँ खोलने जा रहा हूँ। हमें किसी सम्प्रदाय और विशेषकर किसी धर्म से जुड़े सम्प्रदाय का निर्माण के लिए अपनी शक्तियों का संगठन नहीं करना है, बल्कि ऐसा केवल आर्थिक प्रबन्ध आदि की दृष्टि से ही करना है। एक जोरदार प्रचार-कार्य आरम्भ करना होगा। एक साथ मिलकर संगठन-कार्य में जुट जाओ।

श्रीरामकृष्ण के चमत्कार के सम्बन्ध में यह क्या बकवास है! ...चमत्कार के विषय में न तो मैं कुछ जानता हूँ, न ही उसे समझता हूँ। श्रीरामकृष्ण के पास क्या चमत्कार दिखाने के अलावा दुनिया में और कोई काम नहीं था? कलकत्ते के ऐसे लोगों से भगवान ही बचायें। इन्हीं विषयों को लेकर वे कार्य करेंगे! श्रीरामकृष्ण कौन-सा कार्य करने तथा क्या सिखाने आये थे — इसी को आधार बनाकर यदि कोई उनकी वास्तविक जीवनी लिख सकता हो, तो लिखने दो; अन्यथा इसकी कोई जरूरत नहीं। उनके जीवन तथा सन्देश को विकृत करना उचित नहीं है। ये लोग, जो ईश्वर को जानना चाहते हैं, श्रीरामकृष्ण में जादूगरी के सिवा अन्य कुछ नहीं देखते! ...यदि किडी उनके प्रेम, उनके ज्ञान, उनकी सर्वधर्म-समन्वय सम्बन्धी उक्तियों तथा अन्य उपदेशों का अनुवाद कर सकता है, तो करने दो। विषय-वस्तु इस प्रकार है।

श्रीरामकृष्ण का जीवन एक असाधारण ज्योतिर्मय दीपक है, जिसके प्रकाश में हिन्दू धर्म के विभिन्न अंग एवं आशय समझे जा सकते हैं। शास्त्रों में निहित सिद्धान्त-रूप ज्ञान के वे प्रत्यक्ष निदर्शन थे। ऋषि और अवतार हमें जो वास्तविक

शिक्षा देना चाहते थे, उसे उन्होंने अपने जीवन के द्वारा दिखा दिया है। शास्त्र मतवाद मात्र हैं और रामकृष्ण हैं उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति। उन्होंने अपने ५१ वर्ष के जीवन में पाँच हजार वर्ष का राष्ट्रीय आध्यात्मिक जीवन बिताया और इस तरह वे भविष्य की सन्तानों के लिए अपने आपको एक शिक्षाप्रद उदाहरण बना गये। विभिन्न मत एक एक अवस्था या क्रम मात्र हैं — उनके इस सिद्धान्त से वेदों का अर्थ समझ में आ सकता है और शास्त्रों में सामंजस्य स्थापित हो सकता है। उसी के अनुसार दूसरे धर्म या मत के लिए हमें न केवल सहनशीलता का प्रयोग नहीं करना चाहिए, अपितु उन्हें अंगीकार करके जीवन में रूपायित करना होगा और उसी के अनुसार सत्य ही सब धर्मों की नींव है।

अब इसी के आधार पर एक अत्यन्त मनोहर तथा सुन्दर जीवनी लिखी जा सकती है। अस्तु, सब काम अपने समय से होंगे। ... अपना काम करते चलो, कलकत्तावालों का मुँह जोहने की जरूरत नहीं। उनके साथ सम्बन्ध बनाये रखो, शायद उनमें से कोई अच्छा निकल आये। लेकिन स्वाधीनता से अपना काम करते रहो। काम के वक्त कोई नहीं, पर खाने के वक्त सब हाजिर हो जाते हैं। सतर्क रहो और काम करते जाओ।

आशीर्वाद के साथ सदैव तुम्हारा,

विवेकानन्द

धर्मों की एकता

मुसलमान चाहते हैं कि सारा विश्व इस्लाम ही होता, ईसाई चाहते हैं कि सारा विश्व ईसाई धर्म ही मानता और बौद्ध चाहते हैं कि बौद्ध धर्म ही विश्वधर्म बनता। परन्तु वेदान्त कहता है कि विश्व के प्रत्येक व्यक्ति को, यदि वह चाहता है, तो अलग रहने दो; सबकी मूलभूत एकता तो बनी रहेगी। जितने धर्मगुरु आएँगे, जितने धर्मग्रन्थ बनेंगे, जितने द्रष्टा आएँगे, जितनी विधियाँ बनेंगी, विश्व का उतना ही अधिक कल्याण होगा। ... ईश्वर की यह सबसे बड़ी कृपा है कि संसार में अनेक धर्मों का सृजन हुआ है। और मैं तो ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि नित्य ही इतनी संख्या में और भी वृद्धि हो, जिससे प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना धर्म हो।

— स्वामी विवेकानन्द

पुरुषार्थ और प्रारब्ध

स्वामी आत्मानन्द

मैं दो व्यक्तियों को जानता हूँ। वे परस्पर बड़े मित्र हैं, पर दोनों की विचारधाराएँ विलकुल विपरीत हैं। एक हैं जो पुरुषार्थ में विश्वास करते हैं – कहते हैं, मनुष्य अपने प्रयत्न से सब कुछ हासिल कर सकता है, जबकि दूसरे प्रारब्ध यानी भाग्य के पक्षधर हैं। वे कहते हैं कि जीवन में भाग्य का ही बोलबाला है। वे अपने पक्ष में प्रायः ही महाभारत का श्लोक सुना देते हैं – **भाग्यं फलति सर्वत्र न दैवं न च पौरुषम्** – यानी न ईश्वर की इच्छा और न पुरुषार्थ बल्कि सर्वत्र भाग्य ही फलदायी होता है । जब इन दोनों मित्रों में बहस छिड़ती है, तो वह सुनने लायक होती है। दोनों अपने अपने पक्ष में जोरदार तर्क देते हैं। जो पुरुषार्थी मित्र हैं, वे भी महाभारत से ही एक श्लोक लेकर अपना पक्ष प्रस्तुत कर देते हैं, जहाँ पर भीष्म युधिष्ठिर को पुरुषार्थ की प्रधानता समझाते हुए कहते हैं –

साधारणं द्वयं ह्येतद् दैवमुत्थानमेव च।
पौरुषं हि परं मन्ये दैवं निश्चितमुच्यते।

– "युधिष्ठिर! कार्य की सिद्धि में यद्यपि प्रारब्ध और पुरुषार्थ ये दोनों साधारण कारण माने गये हैं, तथापि मैं पुरुषार्थ को ही प्रधान मानता हूँ। प्रारब्ध तो पहले से ही निश्चित बताया गया है।"

परन्तु भाग्यवादी मित्र सहज में ही हार नहीं मानते। वे अपने पुरुषार्थी मित्र से कहते हैं – तुम्हें अभी तक किसी असफलता का सामना नहीं करना पड़ा इसलिए तुम पुरुषार्थ को लेकर इतना उछल रहे हो। जब लाख चेष्टा करने पर भी देखोगे कि तुम्हारा काम बना नहीं, तब समझोगे कि जीवन का नियंत्रण पुरुषार्थ नहीं, भाग्य करता है।

पहले ये भाग्यवादी मित्र भी बड़े पुरुषार्थी थे। उनके जीवन में एक हादसा हो गया। तब से उनकी दृष्टि में भाग्य ही सर्वोपरि है। हुआ यह कि उनका इकलौता पुत्र बीमार पड़ गया। धन की तो उनके पास कमी थी नहीं, वे एक-से-एक डॉक्टर के पास अपने बेटे को ले गये, पैसा पानी की तरह बहाया, पर अन्त में वे प्रारब्ध के समक्ष न टिक पाये, पुत्र की मृत्यु हो गयी। तब से उनका विश्वास पुरुषार्थ पर से हट गया। वे भाग्यवादी बन गये। और भाग्य का ही दूसरा नाम प्रारब्ध है।

ऐसा बहुतों के साथ होता है। जब तक हमारे मन के अनुसार सारे काम बनते रहते हैं, तब तक हम बड़े पुरुषार्थी होते हैं, पर जब काम बिगड़ने लगते हैं, चेष्टा करने पर भी सफलता नहीं मिलती, तो हम टूटकर भाग्य का सहारा लेते हैं। भाग्य के सम्बन्ध में हमारी धारणा यह है कि वह एक ऐसी शक्ति है, जो दिखती नहीं, पर जो मनुष्य के जीवन की घटनाओं का उसी प्रकार संचालन करती है, जैसे एक सूत्रधार यवनिका के पीछे से कठपुतलियों को नचाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि हम अतियों में रहना पसन्द करते हैं। कोई पुरुषार्थ का एक अति पसन्द करता है, तो कोई भाग्य का दूसरा अति।

लेकिन जीवन की घटनाओं के पीछे पुरुषार्थ और प्रारब्ध दोनों ही विद्यमान हैं। एक को छोड़कर दूसरे को ग्रहण करना सन्तुलित दृष्टि नहीं है। हमारा जीवन इन दोनों के द्वारा नियंत्रित होता है। यदि हम असफलताओं से टूटकर ऐसा मान लें कि जीवन में पुरुषार्थ नाम की कोई चीज ही नहीं है, तब हममें जड़ता और अकर्मण्यता आ जाएगी। हमारी वृत्ति भाग्य-भरोसे बैठे रहने की होगी और हम अतिवाद के शिकार हो जाएँगे।

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने एक दृष्टान्त के माध्यम से इन दोनों का सुन्दर समन्वय किया है। वे कहते हैं — मान लीजिए हम ताश खेलने बैठे हैं। ताश की जो पत्तियाँ हमारे हाथ में आयी हैं, यह प्रारब्ध का पक्ष है। पर इन पत्तियों से हम अपना खेल किस प्रकार खेलते हैं, यह पुरुषार्थ का पक्ष है। हम जितना पुरुषार्थ व्यक्त करेंगे, हमारे जीतने की उतनी सम्भावना बनी रहेगी। इसी प्रकार जीवन में जो परिस्थितियाँ हमें प्राप्त हैं, वे प्रारब्ध या भाग्य के कारण हैं। अब इन परिस्थितियों का उपयोग हम कैसे करते हैं, यह हमारे पुरुषार्थ पर निर्भर करेगा। यदि हमें एक बार असफलता मिलती है, तो हम दुबारा प्रयत्न करेंगे। यही जीवन के प्रति सन्तुलित दृष्टि है।

जीवन का लक्ष्य

इन्द्रिय-सुख को मानवता का चरम लक्ष्य मानना मूर्खता है; मानव जीवन का लक्ष्य तो ज्ञान है।

— **स्वामी विवेकानन्द**

श्रीरामकृष्ण का स्मरण

स्वामी भूतेशानन्द

(दिनांक ६ मार्च १९८९ को श्रीरामकृष्ण जयन्ती के अवसर पर बेलुड़ मठ के प्रांगण में आयोजित सभा की अध्यक्षता करते हुए महाराज ने बँगला में जो व्याख्यान दिया था, उसका 'विवेक-ज्योति' के लिए अनुवाद किया है श्री सुविमल चटर्जी ने, जो बस्तर जिले के पिछड़े इलाकों में कार्यरत 'विश्वास' नामक सेवा-संस्थान के निदेशक हैं। - सं.)

आज श्रीरामकृष्ण की पुण्य जन्मतिथि है। अतः आज हम लोग इस पुण्यतीर्थ बेलूड़ मठ में एकत्र होकर उनके जीवन पर चिन्तन करने में थोड़ा समय बिताने का प्रयास कर रहे हैं। यह चिन्तन केवल आज ही नहीं, युगों तक चलेगा एवं इसके माध्यम से ही हम सभी को अपने जीवन की चरम सार्थकता प्राप्त होगी। 'श्रीरामकृष्ण' की चर्चा करते समय मेरा तात्पर्य किसी व्यक्ति-विशेष या किसी निर्दिष्ट भावधारा से नहीं है। 'श्रीरामकृष्ण' शब्द का प्रयोग मैं एक व्यापक अर्थ में कर रहा हूँ। श्रीरामकृष्ण सभी को एक आदर्श के रूप में अपना जो जीवन दिखा गए हैं तथा जो उपदेश वे दे गये हैं उसका स्मरण-चिन्तन करने से हमारा कल्याण होगा।

भगवान को लेकर मनुष्य का यह खेल अथवा मनुष्य को लेकर भगवान की यह लीला चिरकाल से चली आ रही है। इन सबके भीतर सर्वत्र व्याप्त रहकर भी उन्होंने स्वयं को इस तरह छिपा रखा है कि मनुष्य जन्म-जन्मान्तर से कोशिश करते हुए भी उनका अन्त नहीं पाता। हमारे शास्त्रों में भी कहा गया है कि वे अनन्त हैं। अतएव उनका अन्त पाने की चेष्टा निरर्थक है। परन्तु उनकी खोज तथा उनका रसास्वादन करने में अपना जन्म बिताना — इससे बढ़कर मनुष्य जीवन की दूसरी कोई सार्थकता नहीं। यदि हम जीवन को सार्थक बनाना चाहते हों, तो इसी प्रकार उनकी खोज में लगे रहकर हमें अपना जीवन व्यतीत करना होगा।

श्रीरामकृष्ण अपनी उक्तियों तथा कर्म द्वारा हमें शिक्षा देते हैं कि हम इस जीवन को वृथा नष्ट न करें। जन्म से आरम्भ करके अपने अब तक के जीवन को यदि हम बारीकी से देखकर यह जानने का प्रयास करें कि उसका हमने अब तक कितना भाग वास्तविक कार्यों में लगाने का प्रयास किया है, तो शायद हमें निराशा ही हाथ लगेगी। बहुत-सा समय हमने व्यर्थ ही गँवा दिया है। और दूसरी ओर यदि हम श्रीरामकृष्ण के मानवीय जीवन पर विचार करें, तो हम पाते हैं कि वे

सर्वदा सत्य, त्याग, प्रेम, पवित्रता और सर्वोपरि ईश्वरप्राप्ति के आदर्श को केन्द्र बनाकर चल रहे हैं। वे कहते हैं, "माँ, एक दिन और तो चला गया, पर तूने आज भी दर्शन नहीं दिया।" शिष्य निरंजन को कहते हैं, "बेटा निरंजन, दिन तो जो बीत गया। तूने अब भी ईश्वरप्राप्ति नहीं की। फिर कब करेगा?" कब करेंगे, यह तो हम नहीं जानते; परन्तु भगवत्प्राप्ति के लिए जो उत्कण्ठा, व्याकुलता तथा प्राणपण से प्रयास श्रीरामकृष्ण ने दिखाया, वह हम लोगों के लिए उनके जीवन की एक बहुत बड़ी शिक्षा है। 'प्रत्यन्ति गताः पुनर्न दिवसाः' -- जो दिन गुजर जाते हैं, वे पुनः लौट नहीं आते। कितने ही दिन हमने गवाँ दिये। किन्तु अब भी जितने दिन बचे हैं, क्या हम उन्हें श्रीरामकृष्ण के आदर्शों के अनुरूप बिताने के प्रयास में नहीं लगा सकते?

श्रीरामकृष्ण कह गए हैं, "मैं साँचा बना गया। अब तुम लोग इस साँचे में स्वयं को ढाल लो।" और यह साँचा इतना विचित्र है कि हममें से प्रत्येक अपने व्यक्तिगत जीवन का वैशिष्ट्य खोये बिना ही इस साँचे में ढल सकता है। विचित्र है यह साँचा! और सबके लिए उपयोगी भी है। चाहे कोई गृहस्थ हो या संन्यासी, युवक हो चाहे वृद्ध, हिन्दू या मुसलमान अथवा ईसाई — श्रीरामकृष्ण ऐसे एक अपूर्व साँचे हैं, एक ऐसे अपूर्व आदर्श हैं कि जो जिस भाव से चाहे, उसमें स्वयं को ढाल कर उस आदर्श से अपना जीवन सार्थक बना सकता है।

श्रीरामकृष्ण के जीवन की इस मौलिकता के विषय में हमें खूब अच्छी तरह विचार करना होगा। हम बहुधा उनके जीवन के विभिन्न पक्ष, उनके दर्शन, उनके अवदान आदि पर विचार किया करते हैं। परन्तु सर्वप्रथम हमें जिस बात पर विचार करना होगा, वह यह है कि हम उन्हें अपने जीवन में कितना उतार सकते हैं। हमें विशेष रूप से यह सोचना होगा कि वे हम लोगों के लिए नहीं बल्कि केवल मेरे लिए आए हैं। मेरे लिए वे साँचा गढ़ गए हैं। उस साँचे में अपने को ढलना है। श्रीरामकृष्ण हमारे एक ऐसे आदर्श हैं, जिनके साथ अपना मिलान करके हम अपनी अपूर्णताओं को जान सकेंगे और यथासाध्य उन्हें दूर करने का प्रयास करेंगे। इस प्रकार श्रीरामकृष्ण का जीवन हमारे जीवन के लिए प्रयोगमूलक होना चाहिए। अर्थात उसका हमारे अपने जीवन में उपयोग हो सके। श्रीरामकृष्ण जानते थे कि उनकी सारी बातें तथा समस्त भाव हम नहीं ले सकेंगे। वह सामर्थ्य हममें नहीं हैं। फिर भी जितना बन सके, उतना ग्रहण करने से ही हमारा जीवन सार्थक तथा धन्य

होगा। श्रीरामकृष्ण कहते हैं — समुद्र क्या कटोरी में समा सकता है? लोटा, कटोरी, घड़ा — सब पूर्ण हो जाते हैं, परन्तु समुद्र का जल जस-का-तस बना रहता है। श्रीरामकृष्ण भी उसी प्रकार के एक अक्षय भण्डार हैं। हम उनमें से जितना भी लें, उनमें कोई न्यूनता नहीं आयेगी। इसलिए आज तक कितने ही मनीषियों, साधकों तथा अन्वेषकों ने उनके जीवन पर चर्चा की है और बाद में भी करेंगे। परन्तु कोई भी उनके विषय में अन्तिम बात नहीं कह सके हैं।

स्वामीजी के प्रत्येक गुरुभाई एक-एक महारथी थे, उन लोगों से वे कहते हैं— तुम क्या सोचते हो कि तुम सभी एक एक रामकृष्ण परमहंस बनोगे? न नौ मन तेल होगा और न राधा नाचेगी। क्योंकि यह असम्भव है। अतः तुम केवल इतना ही कर सकते हो कि स्वयं को उनके चरणों में समर्पित करके अपनी क्षुद्रता एवं अपूर्णता को यथासम्भव दूर करने का प्रयास करो।

श्रीरामकृष्ण को हम 'अवतार', 'युगावतार' और 'भगवान' कहते हैं। भक्तों ने उनके रहते ही ऐसा कहना आरम्भ कर दिया था। इस पर वे उपहास करते हुए कहते, "कोई मुर्दों की चीरफाड़ करता है (डाक्टर है), तो कोई नाटक करता है और यहाँ आकर कहता है — अवतार। ये लोग भला अवतार की बात क्या समझेंगे? अवतार की बात से मुझे घृणा होती है।" गीता (९/११) में भगवान कहते हैं —

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।

— अज्ञानी व्यक्ति मुझ मानव देहधारी की अवज्ञा करते हैं। वे मेरे परम स्वरूप को ये नहीं जानते। वस्तुतः अवतार को बहुत कम लोग ही पहचान सकते हैं। इसके लिए श्रीरामकृष्ण उपमा देते हुए बताते हैं कि एक तरह का पेड़ होता है, जो शाखा-प्रशाखाओं, फल-फूलों समेत ठीक पेड़ की तरह दिखता है, परन्तु किसी पेड़ से मिलता नहीं। इसीलिए लोग इसे 'अचीन्हा' पेड़ कहते हैं। इसे कोई पहचान नहीं पाता। पहचानने के लिए जिस ज्ञान की आवश्यकता है, उसका हममें अभाव है। हम साधरण मनुष्य को देखते हैं, साधारण मनुष्य के बारे में कुछ ज्ञानार्जन करते हैं। परन्तु इन सबसे परे जो हैं, जो सारी सीमाएँ लाँघ चुके हैं, उन्हें समझने में हमारी बुद्धि असमर्थ है। हम अपनी सीमित बुद्धि के द्वारा उन्हें नहीं पकड़ पाते। तो क्या हमारी यह चेष्टा वृथा होगी? व्यर्थ कदापि नहीं होगी। कोई भी सत्प्रयास

व्यर्थ नहीं जाता। इस प्रयास से हमारा क्या लाभ होगा? इससे हमारा क्षुद्र बिन्दु अपनी सीमाओं को खोकर सिन्धु में परिणत हो जायगा। अर्थात मन की शुद्धि होगी। श्रीरामकृष्ण का चिन्तन करते करते हम अपनी क्षुद्रता का नाश करेंगे। अपनी अपूर्णता, अपनी अपवित्रता को दूर करके हम पूर्ण होंगे, पवित्र होंगे। क्रमशः उन्हीं के जैसा होने लगेंगे। जैसे समुद्र के वक्ष पर तरंगें उठती रहती हैं, वैसे ही अपने व्यक्तित्व रूपी छोटी छोटी तरंगों के रूप में हम भी उनमें क्रीड़ा कर रहे हैं। हमारे तरंगों की जो सीमा, जो क्षुद्रता है, उसके चले जाने पर छोटी छोटी तरंगों के समान ही क्या हमारा भी नाश हो जायगा? ऐसा नहीं होगा। बिन्दु तब सिन्धु में परिणत हो जायगा। विशाल सिन्धु स्वरूप श्रीरामकृष्ण का चिन्तन करते करते हम क्रमशः अपने भीतर की क्षुद्रता, अपवित्रता, तुच्छता आदि का परित्याग करके धीरे धीरे उन्हीं में विलीन हो जायेंगे। यही है व्यक्तिगत जीवन में उनका अनुसरण करने की सार्थकता।

"मैं जगत को शिक्षा दूँगा" — श्रीरामकृष्ण ऐसा अभिमान त्याग देने को कहते हैं, "तुम कौन होते हो जगत को शिक्षा देनेवाले? जिनका जगत है, वे ही शिक्षा देंगे। तुम्हारी छटाक भर बुद्धि है, तुम भला जगत को क्या शिक्षा दोगे?" सच ही तो है, हम लोग स्वयं ही भला कितना-सा जानते हैं। 'वचनामृत'कार मास्टर महाशय श्रीरामकृष्ण की बातें सुनकर सोचते हैं कि सचमुच ही तो, यह कोई इतिहास, गणित या इसी तरह का कोई जागतिक विषय तो है नहीं, जो मैं शिक्षा दूँगा। मैं आखिर जानता भी कितना-सा जानता हूँ! स्वयं ही सोने को जगह नहीं, ऊपर से दूसरों को न्यौता दे रहा हूँ। इसलिए हम स्वयं शिक्षा देंगे ऐसा अभिमान हममें न रहे। हम उनसे अपने जीवन का आदर्श प्राप्त करेंगे। पथप्रदर्शक हैं वे, दिखा गये है कि लक्ष्य तक कैसे पहुँचा जाय। उनके बताये पथ पर हम जितना भी चल सकेंगे, उतना ही हमारा जीवन सार्थक होगा। केवल अपने जीवन की सार्थकता के विषय में सोचने से शायद यह स्वार्थपरता प्रतीत हो। परन्तु बात ऐसी नहीं है। क्योंकि यदि मेरा अपना स्वार्थ शुद्ध होगा, तो वह पूरे जगत का स्वार्थ हो जायगा। तब फिर हमारे स्वार्थ के भीतर कोई क्षुद्रता नहीं रहेगी। 'स्व' जब असीम हो जाता है, तब स्वार्थ ही परमार्थ में परिणत हो जाता है। श्रीरामकृष्ण हमें यही सिखाने आए हैं। उनकी शिक्षाओं को किसी दिशा-विशेष में सीमाबद्ध नहीं रखा जा सकता। उसी प्रकार जैसे कि समुद्र को लोटे में धारण करने की चेष्टा व्यर्थ है। उनके अनन्त

भावों में से जितना भी सम्भव हो, मुझे लेने की चेष्टा करनी होगी एवं धीरे-धीरे हमारे व्यक्तिगत जीवन में शुद्धि आयेगी तथा उसके माध्यम से एक एक व्यक्ति यदि शुद्ध हो, तो समष्टि की शुद्धि हो जायेगी। समष्टि क्या है? व्यष्टि को लेकर ही तो समष्टि है? इसलिए एक एक व्यक्ति यदि शुद्ध हो जाय, तो समष्टि अपने आप शुद्ध हो जाएगा। इसके अतिरिक्त जो लोग इस आदर्श का अनुसरण करेंगे, वे स्वयं तो दिनों-दिन शुद्धिलाभ करेंगे ही, पर वह शुद्धि उन्हीं के व्यक्तित्व तक सीमित न रहकर चारों ओर अपना प्रभाव फैलाते हुए समग्र जगत के उत्थान में सहायक होगी।

श्रीरामकृष्ण ने घर घर जाकर शिक्षा नहीं दी। मुख्यतः वे दक्षिणेश्वर के अपने कमरे में ही रहे। यदा कदा भले ही किन्हीं दो-एक भक्तों का घर उनके शिक्षादान का क्षेत्र बना हो। परन्तु इस सीमित क्षेत्र में रहते हुए भी वे जो बीज बो गए हैं, वह क्रमशः आज एक विशाल वृक्ष में परिणत हुआ है और दिनों-दिन उसका प्रसार होता जा रहा है। अभी तो आरम्भ मात्र है। इसका पूर्ण रूप से फूला-फला स्वरूप हमने नहीं देखा है। इसकी विशालता में क्रमशः वृद्धि होगी। हम लोग इसी भाव से श्रीरामकृष्ण को अपने जीवन में जितना भी ग्रहण कर सकेंगे, उतना ही हमारा अपना जीवन धन्य होगा और जितना भी कर सकेंगे, उसके परिणामस्वरूप जगत-कल्याण रूपी कार्य भी और अच्छी तरह सम्पन्न होंगे।

मैं तो केवल इतना कहना चाहूँगा कि श्रीरामकृष्ण हमारे लिए केवल एक शोध का विषय मात्र बनकर न रह जायँ। वे हमारे आदर्श हों और उसी आदर्श को अपने जीवन में रूपायित करने में हमारे जीवन का प्रत्येक मुहूर्त बीते। श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "जो यहाँ आयेंगे, उनका यह अन्तिम जन्म होगा।' 'यहाँ' से उनका तात्पर्य क्या किसी जगह या व्यक्तिविशेष से है? 'यहाँ' आने का अर्थ है श्रीरामकृष्ण के पास आना, उनके भावों में अपना जीवन लगा देना और उनके साँचे में स्वयं को ढाल लेना। उनके साँचे में न ढल सकने पर, उनके भावों को अपने जीवन में रूपायित न कर पाने पर, उनका 'भक्त' कहलाने में कोई सार्थकता नहीं है।

आज इस पुण्य दिवस पर मैं श्रीरामकृष्ण के चरणों में प्रार्थना करता हूँ कि उनकी कृपा से हमारी यह दृष्टि खुल जाय, ताकि हम उन्हें आदर्श बनाकर अपना समग्र जीवन उनके भावों में, उनके साँचे में ढाल सकें।

□

एक अपील

रामकृष्ण मठ
पो. बेलुड़ मठ, जि. हावड़ा
(प. बंगाल) ७११ २०२

जैसा कि आप में से अधिकांश लोग जानते हैं कि विश्वव्यापी रामकृष्ण भावधारा के संस्थापकों की पवित्र स्मृतियों के संरक्षणार्थ बेलुड़ मठ में एक संग्रहालय की स्थापना की गयी है, जिसका उद्घाटन १३ मई, १९९४ ई. को संघाध्यक्ष श्रीमत स्वामी भूतेशानन्दजी के हाथों सम्पन्न हुआ था।

श्रीरामकृष्ण, माँ सारदादेवी, स्वामी विवेकानन्द तथा श्रीरामकृष्ण के अन्य शिष्यों द्वारा उपयोग में लाये गये वस्त्र, पादुकाएँ तथा अन्य वस्तुएँ; उनके द्वारा लिखित पत्र और उनके द्वारा पढ़ी गयी पुस्तकों आदि को संग्रहालय में प्रदर्शित किया गया है। संग्रहालय से संलग्न अत्याधुनिक पुराभिलेखागार में उपरोक्त वस्तुओं को आधुनिकतम तकनीक की सहायता से संरक्षित किया जाता है। हमें आपको यह भी सूचित करते हुए हर्ष हो रहा है कि विगत ४ फरवरी १९९६ को पूज्य संघाध्यक्ष महाराज ने एक नये तकनीकी दृष्टि से नियोजित, विशाल संग्रहालय तथा पुराभिलेखागार भवन की आधारशिला रखी।

वैसे अनेक व्यक्ति तथा संस्थाएँ अपने पास पड़ी ऐसी वस्तुएँ हमें दे रहे हैं, तथापि हम एक बार पुनः हम अपने भक्तों, संस्थाओं तथा जनसाधारण से यह अपील करते हैं कि वे अपने पास पड़ी इस तरह की किसी भी स्मरणीय वस्तु को बेलुड़ मठ के ट्रस्टियों अथवा अपने निकट स्थित हमारे किसी भी शाखाकेन्द्र को सौंप दें। हम एक बार पुनः दुहराते हैं कि यदि ये वस्तुएँ वैज्ञानिक पद्धति से संरक्षित नहीं की गयीं, तो वे समय के आघात को नहीं झेल सकेंगी और सदा के लिए दुनिया से विलुप्त हो जायेंगी। हम आपके हार्दिक सहयोग की अपेक्षा करते हैं और हम इसके लिए चिर आभारी रहेंगे।

पुराभिलेखागार के कार्य, प्रस्तावित भवन का मॉडल तथा प्रदर्शित वस्तुओं के नमूनों के आधार पर बनायी गयी १५ मिनट का एक वीडिओ कैसेट विक्रय के लिए उपलब्ध है, जिसे रामकृष्ण संग्रहालय, बेलुड़ मठ और हमारे कुछ भारतीय तथा विदेश में स्थित केन्द्रों से प्राप्त किया जा सकता है।

स्वामी आत्मस्थानन्द
महासचिव

१७.६.१९९६

मानस रोग (२६/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा प्रतिवर्ष आयोजित विवेकानन्द जयन्ती के अवसरों पर पण्डितजी ने 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत मानस-रोग प्रकरण पर कुल ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके छब्बीसवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत विद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। — सं.)

पिछले प्रवचन में मन के इस कुष्ट रोग की चर्चा प्रारम्भ की गई है। मन के इस कुष्ट रोग के साथ गोस्वामीजी दो विशेषण जोड़ देते हैं — "कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई" — दुष्टता और कुटिलता मन का कुष्ट है। एक प्रकार के रोग तो वे हैं, जिनमें रोगी स्वयं कष्ट पाता है, और दूसरे प्रकार के कुछ रोग ऐसे होते हैं जिनमें रोगी स्वयं तो कष्ट पाता ही है पर साथ ही वह परिवार और समाज के दूसरे लोगों को भी, जो उनके निकट होते हैं, उन्हें भी कष्ट पहुँचाता है। ऐसी स्थिति में जो रोग एक व्यक्ति ही नहीं, अपितु पूरे परिवार और समाज के लिए बड़ा घातक है, उसकी तो तत्काल चिकित्सा होनी आवश्यक है। इस पंक्ति में उन दोनों तरह के रोगों का वर्णन किया गया है। पहले तो यह कहा गया है कि — 'पर सुख देखि जरनि सोई छई।' दूसरे के सुख को देखकर मन में जलन होना मन का यक्ष्मा रोग है। इससे व्यक्ति स्वयं दुःख पाता है। जब तक यह रोग एक व्यक्ति तक सीमित रहे, तब तक तो यह एक प्रकार का रोग है। किन्तु प्रायः ऐसा होता नहीं है कि व्यक्ति अकेले ही चुपचाप सारा दुःख सह ले। उसका तो रोग ही ऐसा है कि उससे दूसरों का सुख देखा नहीं जाता, दूसरों का सुख देखकर उसे दुःख होता है। तब वह दूसरों के सुख को नष्ट करने के चेष्टा करता है, दुःख पहुँचाने की चेष्टा करता है और तब वह दूसरे प्रकार का रोग हो जाता है, जो परिवार तथा समाज को भी प्रभावित करता है। यह रोग एक व्यक्ति से फैलकर पूरे समाज में व्याप्त हो जाता है। इसके लिए कहा गया है — 'कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई।' दूसरों को कष्ट पहुँचाने की वृत्ति है दुष्टता। यही मन का कोढ़ है। इसके साथ गोस्वामीजी एक विशेषण और जोड़ देते हैं — दुष्टता के साथ कुटिलता। कुटिलता माने टेढ़ापन।

भगवान श्री राघवेन्द्र भक्ति की व्याख्या करते हुए कहते हैं —

सरल सुभाव न मन कुटिलाई। ७/४५/२

सरलता ही मानो भक्ति है। सरलता और कुटिलता परस्पर विरोधी वृत्तियाँ हैं अर्थात कुटिलता भक्ति का विरोधी है। सरलता भगवान को प्रिय है तथा वे कुटिलता की निन्दा करते हुए कहते हैं —

आगें कह मृदु बचन बनाई। पाछें अनहित मन कुटिलाई।
जा कर चित अहि गति सम भाई। अस कुमित्र परिहरेहिं भलाई। ४/७/७-८

इसे व्यावहारिक अर्थों में यों कह सकते हैं कि जैसे कुष्ट एक असाध्य रोग माना जाता है अथवा बड़ी कठिनाई से ठीक होता है, उसी तरह से मन की यह दुष्टता और कुटिलता भी असाध्य अथवा कष्टसाध्य रोग है। रोगों की असाध्यता पर अगर हम दृष्टि डालें तो हमें इसके दो कारण दिखाई देंगे। इस सन्दर्भ में मानस का शरणागति-प्रसंग ध्यान देने योग्य है। विभीषण भगवान श्रीराम के शरण में आये हुए हैं। बन्दरों ने उन्हें शिविर के बाहर ही रोक दिया और सुग्रीव को सूचना दी कि रावण का भाई आया है। सुग्रीव ने भगवान राम से कहा —

आवा मिलन दसानन भाई। ५/४३/४

— महाराज, दशानन का भाई आया हुआ है।

प्रभु ने बड़े भोलेपन से कहा —

कह प्रभु सखा बूझिए काहा। ५/४३/५

— मित्र इसमें पूछने की क्या बात है?

सुग्रीव ने कहा — महाराज, राजनीति की दृष्टि से व्यक्ति को सदा सजग रहना चाहिए। मुझे उसका शरण में आना किसी भी तरह से युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। वह रावण का भाई है। मुझे तो लगता है कि रावण ने ही उसे हमारा भेद लेने भेजा है। वह शरणागति का स्वांग करके हमारा भेद लेने आया है। मुझसे अगर पूछें तो मैं यही कहूँगा कि उसे बन्दी बना लेना चाहिए। यहाँ पर सुग्रीव की भूमिका भिन्न प्रकार की है।

सुग्रीव के चरित्र का एक दूसरा पक्ष भी है जो भगवान राम को अत्यन्त प्रिय है। सामान्यतः सुग्रीव के चरित्र में अनेक दुर्बलताएँ दिखाई देती हैं, किन्तु उनके बावजूद वे यदि भगवान श्रीराम के पास आ सके और उनके जीवन का क्रमशः विकास होता गया, इसका कारण यही है कि दुर्बलताओं के होते हुए भी उनमें दो गुण बड़े महत्वपूर्ण थे। कौन से? नवधा भक्ति के लक्षणों को अगर देखें तो उसमें भक्ति के दो ऐसे सूत्र हैं, जो सुग्रीव के जीवन में विद्यमान हैं। पहला है —

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। ३/३५/८

भगवान शबरी से कहते हैं — संत का संग मेरी पहली भक्ति है। सुग्रीव के जीवन में यह सूत्र विद्यमान है। वे भले ही दुर्बल चरित्र हों, पर उन्हें हनुमानजी जैसे महान संत का संग प्राप्त है। दूसरा लक्षण जिससे भगवान अत्यन्त प्रभावित हुए, वह थी सुग्रीव की सरलता। सुग्रीव अत्यन्त सरल थे। उन्होंने भगवान को अपनी जो आत्मकथा सुनाई, उसे अगर कोई दूसरा सुने तो यही सोचेगा कि यह तो अत्यन्त कायर और चुनौतियों से सदा पलायन करनेवाला व्यक्ति है। लक्ष्मणजी पर तो यही प्रभाव पड़ा, क्योंकि सुग्रीव ने अपनी आत्मकथा में बार-बार भागने की ही बात कही थी। लेकिन भगवान तो सुग्रीव की आत्मकथा सुनकर गदगद हो गये। भगवान राम की दृष्टि क्या है? लक्ष्मणजी ने जब प्रभु से पूछा कि सुग्रीव की आत्मकथा सुनकर आपको कैसा लगा, तो उन्होंने कहा — लक्ष्मण, सुग्रीव में तो नवधा भक्ति का नौवाँ लक्षण पूरी तरह से विद्यमान है। नौवाँ लक्षण क्या है?

नवम सरल सब सन छलहीना। ३/३६/५

— नवीं भक्ति है सरलता। प्रभु ने कहा — लक्ष्मण क्या तुमने इस बात पर गौर किया कि सारी कथा सुग्रीव ने स्वयं सुनायी है। सुग्रीव के सम्बन्ध में ये बातें अगर कोई दूसरा सुनाता, तो सुनकर मुझे आश्चर्य न हुआ होता। परन्तु स्वयं सुनाते समय सुग्रीव यदि चाहते तो अपने चरित्र को इस पद्धति से भी रख सकते थे कि जिससे उनकी अपनी दुर्बलताएँ प्रकट न हो पातीं। लेकिन बड़ी सरलता से उन्होंने अपनी दुर्बलताओं को स्वीकार कर लिया। यह बड़ी महत्वपूर्ण बात है। भक्तिशास्त्र में इसे अत्यधिक महत्व दिया गया है। व्याख्या के रूप में इसे कह सकते हैं कि व्यक्ति अगर रोगी है तो पुनः स्वस्थता प्राप्त करने के लिए उसमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण गुण कौन सा होना चाहिए? रोग तो किसी-न-किसी भूल अथवा कुपथ्य का ही परिणाम होता है। इसलिए रोगी के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि वह वैद्य के समक्ष अत्यन्त सरल और निष्कपट भाव से अपनी भूल बता दे। अभिप्राय यह है कि कुछ रोग ऐसे भी हैं जो बड़े घृणित होते हैं और उनके मूल कारण भी बड़े जघन्य होते हैं। ऐसे रोगों का वर्णन करने में रोगी को संकोच होता है और वह उसे छिपाने का प्रयत्न करता है। ऐसी परिस्थिति में परिणाम क्या होता है? जिस रोगी में छिपाने की वृत्ति होती है, उसका रोग असाध्य हो जाता है। इसलिए रोगी का सर्वोत्कृष्ट गुण यही है कि वह वैद्य के सामने अपने आपको पूरी

तरह से खोलकर रख दे। जिस भूल या गलती के कारण उसे रोग हुआ है, उसे सरलतापूर्वक स्वीकार करके निष्कपट भाव से वैद्य को बता दे। यही रोगी के स्वंस्थ होने का सर्वोत्कृष्ट उपाय है। भगवान को लगा कि सुग्रीव के चरित्र का सर्वोत्तम लक्षण यही है कि इनके चरित्र में रंचमात्र भी दुराव-छिपाव की वृत्ति नहीं है और वे निरन्तर संत का आश्रय लिए हुए हैं। उन्होंने पूरी निष्छलता के साथ अपने अन्तःकरण की दुर्बलताओं को खोलकर रख दिया है; ऐसी स्थिति में इसकी स्वस्थता का सारा भार अब मेरे ऊपर है। रोगी जब वैद्य के सामने अपने दोषों को पूरी तरह से खोलकर रख देता है तब उसकी चिकित्सा करके उसे स्वस्थ बनाने का सारा भार वैद्य पर आ जाता है। सचमुच इन्हीं दो गुणों के कारण प्रभु सुग्रीव पर रीझ गये थे। परन्तु सुग्रीव के अन्तःकरण में अभी भी विषयसुख की लालसा छिपी हुई थी। अनुकूलता पाते ही वे भोग में डूब गये। प्रभु का आश्रय पाकर सुग्रीव निर्भय हो गये और प्रभु को भूल गये। चार महीने बीत गये पर सुग्रीव को प्रभु की याद नहीं आई। प्रभु ने लक्ष्मणजी को सुग्रीव के पास भेजा और तब वे भगवान के पास आए।

यहाँ पर भी सुग्रीव का वही पक्ष सामने आता है। वे चाहते तो भगवान के सामने आकर बहाने बना सकते थे कि वे राजकाज में इतना व्यस्त थे कि जानकीजी का पता लगाने को समय ही नहीं मिला। लेकिन उन्होंने ऐसा बिलकुल नहीं किया। उन्होंने निष्कपट भाव से अपने अन्तःकरण की वृत्तियों को भगवान राम के सामने रख दिया –

अतिसय प्रबल देव तब माया। छूटइ राम करहु जौं दाया।
बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पावँर पसु कपि अति कामी।
नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा।
लोभ पाँस जेहिं गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया। ४/२१/२-६

बड़े ही सहज भाव से उन्होंने अपने दोषों को स्वीकार कर लिया। बड़े सरल शब्दों में उन्होंने प्रभु से कह दिया – प्रभु, विषय तो इतने प्रबल हैं कि वे तो ऋषि-मुनियों के मन को भी आकृष्ट कर लेते हैं, तो भला मैं क्या चीज हूँ। और उन्होंने स्वयं अपने लिए जिस शब्द का प्रयोग किया, उस शब्द में कितनी निरभिमानता है, वे बड़ी सरलता से कहते हैं – प्रभो, मैं तो पामर पशु हूँ और उसमें भी ऐसा पशु जो अत्यन्त कामी होता है। मैं तो बन्दर हूँ। मेरे चरित्र में तो यह कामजन्य

दुर्वलता स्वाभाविक रूप से ही विद्यमान है। सुग्रीव अपनी भूल को सरलता से स्वीकार कर लेते हैं और अपने सारे दोषों को निष्कपट भाव से प्रभु के सामने रख देते हैं। यह विशेषता तो उनमें है ही, परन्तु इसके बाद उन्होंने प्रभु से जो कुछ कहा, वह बड़ा ही महत्वपूर्ण सूत्र है और यही सूत्र 'विनयपत्रिका' में सर्वत्र दिखाई देता है। 'विनयपत्रिका' में गोस्वामीजी भगवान से प्रार्थना करते हैं तो इसी शैली में करते हैं। सुग्रीव ने कहा – प्रभो, मुझमें दोष तो हैं, परन्तु मैं इनसे मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि ये मेरे स्वभाव में हैं, अतः मैं इन्हें मिटाने से समर्थ नहीं हूँ। अगर समर्थ होता, तो आपके पास ही क्यों आता? मैं जो आपके पास आया हूँ, इसका अर्थ ही है कि मैं इनसे हार गया हूँ और जान गया हूँ कि ये दोष आपकी कृपा के बिना दूर नहीं हो सकते। यह बड़ा ही महत्वपूर्ण सूत्र है – स्पष्ट रूप से बता देना कि मुझमें ये दोष हैं और ये आपकी कृपा से ही दूर हो सकते हैं। अब इसे दूर करने का भार आप पर है।

'विनयपत्रिका' में गोस्वामीजी इस सूत्र को अत्यधिक महत्व देते हैं। वे जब भगवान से कहते हैं – मुझ पर कृपा कीजिए, तो भगवान पूछते हैं – किस विशेषता के कारण कृपा करें? इस पर गोस्वामीजी एक बड़ी अनोखी बात कहते हैं। उनकी यह अनोखी पद्धति 'विनयपत्रिका' के कई प्रसंगों में दिखाई देती है। वे भगवान को अपने गुणों के स्थान पर दोष ही बताने लगते हैं। भगवान पूछते हैं – तुम्हारे इन दोषों को सुनकर मन में कृपा उत्पन्न होगी या घृणा? गोस्वामीजी कहते हैं – महाराज, मेरे दोषों में भी एक विशेषता है। – क्या? – यह अपने दोषों का जो विश्लेषण है, इसका एक तात्पर्य है। एक रोगी तो वह होता है जिसे रोग होते हुए भी अपने रोगों का भान नहीं होता, कुछ रोग ऐसे होते हैं, जो गुप्त रूप से उत्पन्न होते हैं और भीतर-ही-भीतर पनपते रहते हैं। व्यक्ति को पता ही नहीं होता कि उसे कोई रोग है और वह बड़े मजे में रहता है। परिणाम यह होता है कि जब रोग पूरी तरह से विकृत होकर प्रगट होता है, जब विस्फोटक रूप धारण कर लेता है, तब तक वह असाध्य हो चुका रहता है और व्यक्ति मृत्यु का ग्रास बन जाता है। ऐसे रोगों का ज्ञान जब तक रोगी को नहीं रहता, तब तक वह बड़े मजे में रहता है। किन्तु जैसे ही परीक्षा करने पर रोग प्रमाणित हो जाता है तो उसे सुनकर वह व्यक्ति बड़ा दुःखी और आतंकित हो जाता है। हमारे साथ एक सज्ज्न हैं, जो मुझे इसी बात की उलाहना देते हैं – आपने मुझे मेरे ऐसे रोग का ज्ञान करा दिया

जिसका मुझे पता नहीं था। मैं इसे जानकर व्यर्थ ही परेशानी में पड़ गया हूँ। जब तक मैं नहीं जानता था, तब तक तो बड़े मजे में था, परन्तु अब मैं बड़ा चिन्तित रहता हूँ कि मुझे ऐसा भयंकर रोग है। खाने-पीने की स्वतंत्रता नहीं रही। हमेशा पथ्य-कुपथ्य का ही ध्यान रखना पड़ता है।

अब रोग का यह ज्ञान हो जाना ठीक है या नहीं? इसके उत्तर में यही कहना पड़ेगा कि छिपे हुए रोग को जान लेने से व्यक्ति की प्रसन्नता में बाधा भले ही उत्पन्न हो, पर जान लेना ही ठीक है, क्योंकि व्यक्ति अगर छिपे हुए रोग को जान ले, तो वह पथ्य और चिकित्सा के द्वारा उसे नियंत्रित कर सकता है, स्वस्थ हो सकता है। किन्तु रोग को न जानने के कारण व्यक्ति भले ही प्रसन्न रहे कि मुझे कोई रोग नहीं है, पर रोग तो भीतर-ही-भीतर पनपता रहता है और बाहर से वह मृत्यु की ओर बढ़ता रहता है। यह जैसे शरीर के सन्दर्भ में वैसे ही मन के सन्दर्भ में भी सत्य है। मन के रोगों को भी जो लोग रोग के रूप में नहीं जानते, वे बड़े प्रसन्न रहते हैं। इसीलिए भागवत (३/७/१७) में कहा गया है — भाई, संसार में दो ही प्रकार के लोग सुखी दिखाई देते हैं। **यश्च मूढ़तमो लोके** — एक तो वे जो बहुत ही मूढ़ हैं; और इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति तभी तक प्रसन्न है जब तक उसे छिपे हुए रोगों का भान या ज्ञान नहीं है। इसलिए वह निश्चित होकर मनमाने आचरण करते हुए प्रसन्न रहता है। दूसरे प्रकार के सुखी वे लोग हैं, **यश्च बुद्धेः परं गतः** — जो पूरी तरह से रोगमुक्त हो चुके हैं, जिनमें समग्र स्वस्थता आ चुकी है। केवल बीचवाला व्यक्ति हर प्रकार से दुखी है। यह दुःख ही मनुष्य के जीवन में साधना का द्वार खोलता है उसका मार्ग प्रशस्त करता है। इसे यदि क्रम की दृष्टि से विचार करके देखें, तो रामचरितमानस में जीवों का जो विभाजन किया गया है —

बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने। २/२७७/३

— विषयी जीव की पहली श्रेणी है। विषयी वह है, जो विषय में सुख अनुभव कर रहा है। साधक दूसरी श्रेणी का जीव है। साधक वह है, जिसे विषय प्राप्त होने पर भी उसमें सुख के स्थान पर दुःख की ही अनुभूति होती है। यही साधक का लक्षण है और यहीं से साधना प्रारम्भ होती है। इस दुःखानुभूति के बिना साधना प्रारम्भ ही नहीं हो सकती। इस सन्दर्भ में विनयपत्रिका में एक बड़ी मधुर बात कही गई है। कोई प्रश्न करता है — अपने अनुभव को प्रमाण मानें या आपके शब्दों को? उन्होंने पूछा — क्यों? बोले — यदि किसी को कोई वस्तु मीठी लग रही हो

और कहीं व्याख्यान में सुनने को मिले कि वह कड़वी है, तो प्रमाण हम अपनी जीभ को मानेंगे या उस भाषण को? गोस्वामीजी ने कहा कि व्यक्ति का अनुभव तो बड़ा महत्वपूर्ण होता है, लेकिन कभी-कभी तो ऐसा अनुभव होना सावधान करने के लिए होता है। उन्होंने इसका एक सुन्दर दृष्टान्त दिया – जैसे अँधेरे में अगर कोई जन्तु काट ले और मन में सन्देह हो कि कहीं साँप आदि किसी जहरीले जन्तु ने तो नहीं काट लिया? तो उसकी परीक्षा करने के लिए एक पद्धति यह है कि जिस व्यक्ति को जन्तु ने काटा है उस व्यक्ति को नीम की पत्तियाँ खिलायी जाती हैं। यदि नीम की पत्तियाँ उसे कड़वी लगे तो लोग प्रसन्न हो जाते हैं कि उसे जहरीले साँप ने नहीं, बल्कि चूहे आदि ने काटा होगा। लेकिन वह व्यक्ति यदि कहने लगे कि नीम की पत्ती मीठी लग रही है, तो इस अनुभूति से न तो रोगी प्रसन्न होता न ही परीक्षा करनेवाले। क्योंकि मान्यता यह है कि जब किसी व्यक्ति को साँप काट लेता है और उसका विष शरीर में फैल जाता है, तब उस व्यक्ति को नीम की पत्ती कड़वी नहीं, मीठी लगती है। अतः नीम की पत्ती कड़वी लगने के स्थान पर मीठी लगने पर जैसे व्यक्ति स्वयं और अन्य लोग भी समझ लेते हैं कि इसे किसी विषैले सर्प ने काट लिया है, अब इसकी चिकित्सा होनी चाहिए। गोस्वामीजी कहते हैं कि इसी प्रकार इस संसार का विषय भी नीम के पत्ते के समान कड़वा है। अब यह कड़वा विषय अगर आपको मीठा लग रहा है, तो इस मिठास की अनुभूति से आप प्रसन्न न हों, इसे आप सत्य प्रमाण न माने। क्योंकि –

काम भुजंग डसत जब जाही। विषय-नींब कटु लगत न ताही। वि. १२७/३

अगर विषय में कड़वाहट के स्थान पर मिठास की अनूभूति हो रही है, तो आप निश्चित समझ लीजिए कि आपको काम-सर्प ने डस लिया है। नीम की पत्ती मीठी लगने पर व्यक्ति यह सोचकर प्रसन्न नहीं होता कि वह पत्ती जो सदा कड़वी लगती थी, आज मीठी लग रही है। बल्कि वह तो आतंकित हो जाता है कि मुझे जरूर साँप ने काटा है, यथाशीघ्र चिकित्सा की व्यवस्था होनी चाहिए, ताकि रोग दूर हो जाय, विष उतर जाय। अभिप्राय यह है कि व्यक्ति के जीवन में साधना का श्रीगणेश तभी होगा, जब उसे अपनी त्रुटियों, दोषों, रोगों का ज्ञान होगा। तब स्वाभाविक रूप से उसके अन्तःकरण में दुःख की अनुभूति होगी, विषयों में कड़वेपन की अनुभूति होगी। बिना इस अनुभूति के कोई व्यक्ति साधक नहीं हो सकता।

शरीर के समान ही मन के सन्दर्भ में भी व्यक्ति को जब अपने रोगों का ज्ञान

होता है, तब उसके अन्तःकरण में बड़ी व्याकुलता होती है। लेकिन यहाँ भी बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है। और वह यह कि रोग का ज्ञान हो जाने के बाद व्यक्ति अगर चौबीसों घण्टे रोग का ही चिन्तन करता रहे कि हाय मुझे यह कैसा रोग हो गया, साँप के काट लेने पर यदि कोई व्यक्ति इतना अधिक आतंकित हो जाय कि दवा करने के बजाय केवल यही कल्पना करता रहे कि अब तो मैं बचूँगा नहीं, तो उसका परिणाम क्या होगा? यही कि वह विष से मरने के स्थान पर आतंक से पहले ही मर जायगा। अभिप्राय यह है कि न जानना तो घातक है ही किन्तु जानने का अतिरेक भी उचित नहीं नहीं है। उचित तो यही है कि व्यक्ति अपने रोग को जाने और उस रोग के निवारण का उपाय करे। जैसे हम रोग को जान लेने के बाद डॉक्टर या वैद्य का आश्रय लेते हैं और उसके बताए हुए पथ्य व दवा का सेवन करके प्रसन्न होते हैं कि अच्छा हुआ कि समय पर हमें रोग का ज्ञान हो गया, अब चिकित्सा और पथ्य के द्वारा मैं स्वस्थ हो जाऊँगा। इस तरह से रोग के साथ यदि रोगी मन में स्वस्थता की वृत्ति का उदय हो तब तो वह रोग का ज्ञान कल्याकारी है, किन्तु इसके विपरीत यदि वह केवल भय और आतंक की सृष्टि करे तो वह रोग का ज्ञान कल्याणकारी नहीं है।

इसलिए साधक के जीवन में स्वदोष दर्शन से यह जो दीनता की वृत्ति आती है, वह साधक को विनत होकर सद्‌गुरु वैद्य के पास जाने की, साधना अथवा चिकित्सा के लिए प्रस्तुत होने की प्रेरणा देनेवाली हो, न कि आत्महत्या की। साधक के दैन्य का अभिप्राय है, अभिमानशून्यता, निश्छलता और निष्कपटता। यह न होकर दीनता अगर साधक के जीवन में आत्मघाती प्रवृत्ति की सृष्टि करे, तब तो वह रोग से भी अधिक घातक है। यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण सूत्र है। इसे अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि कहीं हम उल्टा पाठ न पढ़ लें। दोष को जान लेना और उसे दूर करने का प्रयत्न करना ही सार्थक वृत्ति है।

इस सन्दर्भ में सूरदासजी का एक प्रसिद्ध आख्यान है। सूरदासजी में दैन्य की पराकाष्ठा थी। एक बार वल्लभाचार्यजी से उनकी भेंट हुई। वल्लभाचार्यजी ने उनसे कहा — कुछ सुनाइए। सूरदासजी ने बड़े दीनतापूर्ण शब्दों में सुनाया — "मो सम कौन कुटिल खल कामी।" उस पद में उन्होंने अपने दोषों का बड़े विस्तार से वर्णन किया। तब आचार्यजी ने क्या किया? उन्होंने अनुभव किया कि इनका दैन्य अब चरम सीमा तक पहुँच चुका है। अगर ये इस दैन्य में ही लगे रहेंगे, निरन्तर अपने दोषों का ही चिन्तन करते रहेंगे तो दोषों में डूब जायेंगे। इसलिए उन्होंने

कहा – अरे, कुछ भगवान के गुण सुनाओ। अभिप्राय यह है कि स्वदोष-चिन्तन तो रोग का ज्ञान है और भगवान के गुणों का चिन्तन उस रोग की दवा है। स्वदोष चिंतन के साथ अगर भगवान के गुणों का चिन्तन है, तब तो वह कल्याणकारी है, किन्तु अगर केवल दोष का चिन्तन हो रहा हो और भगवान के गुणों की दवा उसके साथ न हो तो निःसन्देह ऐसा रोगी रोग की असाध्य अवस्था में पहुँचकर आतंकित हो जायगा। होता भी यही है।

गोस्वामीजी विनय-पत्रिका में जब अपने दोषों का विश्लेषण करते हैं, तब उसके साथ-साथ भगवान के गुणों का भी वर्णन करते हैं। उससे अन्तर्मन में रस की अनुभूति होती है। जैसे आयुर्वेद में असाध्य रोगों में रस का प्रयोग किया जाता है, उसी तरह मन के रोगों के लिए भगवान की भक्ति तथा उनका गुणगान ही भक्ति रस है। इस भक्ति रस की विशेषता यह है कि इससे निराशा के स्थान पर पर आशा तथा दैन्य के स्थान पर प्रभु के गुणों का संचार होता है। इससे दोष दूर हो जाते हैं, रोग छूट जाता है। नैराश्य और दैन्य दूर होकर हृदय भगवद्रस से भर जाता है। विनय-पत्रिका की सबसे बड़ी विशेषता यही है। मन के रोग और उसकी चिकित्सा के सन्दर्भ में ऐसे उपादेय ग्रन्थ बहुत कम ही होंगे। मैं तो कहूँगा कि रामचरितमानस की अपेक्षा विनय-पत्रिका में मानस-रोगों का कहीं अधिक सूक्ष्म विश्लेषण है। उसमें मन के रोगों की हर स्थिति का सूक्ष्मतम विश्लेषण किया गया है। इसीलिए विनय-पत्रिका पढ़ने में सभी लोगों को रस नहीं आता। कई लोगों को तो उसके दैन्य से घबराहट होती है। और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कभी कभी तो उल्टा पाठ पढ़ जाने से परिणाम भी उल्टा निकलने लगता है।

हमारे परिचित एक डिप्टी कलेक्टर थे। उन्होंने अपना एक मनोरंजक संस्मरण सुनाया। जब वे प्रयाग विश्वविद्यालय में पढ़ते थे, तो कहीं से उन्हें चिकित्सा विज्ञान का एक ऐसा ग्रन्थ मिला, जिसमें रोगों के लक्षण लिखे हुए थे। एक रोग के लक्षणों को पढ़कर उन्हें लगा कि ये सारे लक्षण तो मुझमें है। बेचारे घबराये और दूसरे ही दिन डॉक्टर के पास जाकर कहने लगे कि मुझे यह रोग हुआ है। सुनकर डॉक्टर को बड़ी हँसी आई। बोले – आपको कैसे पता चला कि आपको यह रोग हुआ है? उन्होंने कहा – एक पुस्तक में मैंने पढ़ा कि इस रोग के ये ये लक्षण हैं और ये सभी मुझमें विद्यमान हैं। डॉक्टर खूब हँसे और बोले – भाई, किताब में तुमने रोग के लक्षण तो पढ़ लिये पर आगे नहीं पढ़ा, पाठ पूरा नहीं हुआ, उसी में आगे लिखा हुआ है कि यह रोग केवल गर्भवती स्त्रियों को ही होता है। अभिप्राय यह

है कि इस तरह का अधूरा पाठ था उल्टा पाठ बड़ा घातक होता है।

विनय-पत्रिका मानस रोगों की चिकित्सा का एक परिपूर्ण विज्ञान है। उसमें एक ओर तो जहाँ रोगों के लक्षण, उनका सूक्ष्म विश्लेषण तथा निदान प्रस्तुत किया गया है, वहीं उनकी सटीक चिकित्सा तथा अचूक औषधि का निर्देश भी है। किन्तु उसे समग्र रूप से न पढ़कर यदि कोई केवल रोग के लक्षणों को पढ़ ले और वे लक्षण स्वयं उसके जीवन में दिखाई दे जाय, तो हो सकता है कि इससे उसके अन्तःकरण में भय, आतंक तथा निराशा का उदय हो, किन्तु विनय-पत्रिका के उन पदों को यदि हम आदि से अन्त तक पढ़ें, तो देखेंगे है कि दैन्य से प्रारम्भ होने पर भी पदों की समाप्ति नैराश्य में नहीं, बल्कि एक ऐसी परिपूर्णता, एक ऐसी आस्था तथा विश्वास में होती है, जहाँ सारे रोगों का समूल नाश होकर पूर्ण स्वस्थता का लाभ होता है। गोस्वामीजी की विनय-पत्रिका पठनीय है। यह साधकों के लिए एक श्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसमें गोस्वामीजी की एक विशिष्ट शैली है। जैसे कि एक पद में वे भगवान से प्रार्थना करते हैं —

कीजै मोको जमजातना मई। वि. १७१

यह पहला वाक्य है, यहीं से प्रारम्भ करते हैं — प्रभो, मुझे यमयातना में डाल दीजिए। नर्क में भी जो सबसे भीषण यातना होती है, उसे यमयातना कहते हैं। कई लोग तो डर के मारे नहीं पढ़ते होंगे। कहाँ तो हम भगवान से सुख-सम्पत्ति माँग रहे हैं और कहाँ तुलसीदास जी कह रहे हैं कि हमें नर्क में डाल दीजिए। भगवान से प्रार्थना नर्क से छुड़ाने के लिए की जाती है कि नर्क में डालने के लिए? लेकिन इस पद की विशेषता क्या है? जिस समय वे कहते हैं कि मुझे नर्क में डाल दीजिए, उस समय उनकी वृत्ति क्या है? वे अपने रोगों के एक-एक लक्षण बड़ी बारीकी से देख रहे हैं। शरीर के सन्दर्भ में जैसे अणुवीक्षण यंत्र के द्वारा रोगाणुओं को हजारों गुना बढ़ाकर उसे बड़ी सूक्ष्मता से निरीक्षण किया जाता है, उसी तरह मन के रोगों में भी गोस्वामीजी की दृष्टि की विशेषता यही है कि वे अपने दोषों को इतना बड़ा बनाकर देखते हैं ताकि उन्हें पूरी तरह समझ लेने में कोई कमी न रह जाय। सामान्यतया हम अपने रक्त को देखकर भी उसमें छिपे हुए रोगाणुओं को नहीं देख पाते, किन्तु चिकित्सक जब उसे यंत्र के द्वारा हजारों गुना बढ़ाकर देखते हैं, तब वे सूक्ष्म जीवाणु दिखाई दे जाते हैं। इसमें ध्यान देने योग्य बात यह है कि रोगी के रक्त अथवा अन्य वस्तुओं में जब रोगाणु पकड़ में नहीं आते, तो चिकित्सक इससे प्रसन्न नहीं होता कि चलो कोई रोग नहीं है। रोग तो प्रत्यक्ष है,

पड़ उसका कारण पकड़ में नहीं आया, इससे रोग का निर्णय करने में कठिनाई होती है और ठीक दवा का चुनाव करना भी कठिन होता है। शरीर चिकित्सा विज्ञान में आजकल जैसे अणुवीक्षण यंत्र के द्वारा परीक्षा करने की यह शैली साधकों की परम्परा में प्राचीनकाल से चली आयी है। उनके पास भी एक अणुवीक्षण यंत्र होता है। कौन सा? वह यंत्र है मन की अन्तर्मुखता और एकाग्रता। अन्तर्मुखी मन जब एकाग्र होकर अपने दोषों को देखता है तो उसे अपने राई के बराबर.दोष भी पहाड़ सरीखे दिखने लगते हैं। वही यंत्र लेकर गोस्वामीजी अपने दोषों को देखते हैं। अपने अन्तःकरण – मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार – एक एक चीज कों बड़ी बारीकी से देखते हैं, उन्हें कई गुना बढ़ाकर देखते हैं, जो दोष सामान्यतया पकड़ में नहीं आते, उन्हें पकड़ते हैं और भगवान से कहते हैं – प्रभो, मुझमें इतने बड़े बड़े दोष हैं, मैंने इतने अपराध किये हैं। इनका दण्ड तो मुझे मिलना ही चाहिए, इसलिए आप –

कीजै मोको जमजातना मई।

राम! तुमसे सुचि सुहृद साहिबहिं मैं सठ पीठि दई। वि. १७१

एक ओर तो प्रभु की कृपा की याद करते हैं, कहते हैं –

गरभबास दसमास पालि पितु-मातु रूप हित कीन्हों।

– माता-पिता के रूप में आपने मुझे जन्म दिया, पालन-पोषण किया और मैं इतना कृतघ्न हूँ कि आपकी इतनी कृपा को भूलकर प्रतिकूल आचरण करने लगा, आपको भूलकर संसार में डूब गया। जब मेरी दृष्टि इस ओर जाती है, तब मुझे लगता है कि इन अपराधों के कारण क्यों न मुझे यमयातना में डाल दिया जाय? किन्तु अपनी इस प्रार्थना का समापन वे कहाँ करते हैं? कहते हैं – प्रभो, लेकिन मैं जानता हूँ कि आप मेरी इस प्रार्थना को स्वीकार नहीं कर सकेंगे। क्यों? कहते हैं –

एतेहु पर हित करत नाथ मेरो, करि आये, अरु करिहैं।

आरम्भ तो हुआ -- कीजै मोको जमजातनामई – से, और अन्त में कहते हैं – प्रभो, मैं समझ गया, भले ही मैं अपने दोष आपसे कहूँ, किन्तु आपका स्वभाव ऐसा है कि इतने पर भी आप मेरा हित ही करते आए हैं, कर रहे हैं और आप अपने इस स्वभाव को छोड़ ही नहीं सकते, इसलिए आगे भी करते रहेंगे।

एक अन्य पद में गोस्वामीजी ने भगवान से कहा – आप प्रसन्न होकर मुझ पर कृपा करें। प्रभु ने कहा – किस विशेषता पर प्रसन्न होकर करूँ? गोस्वामीजी ने कहा – गुण तो मुझमें हैं ही नहीं, सब दागे-ही-दोष हैं और गिनाने लग गये।

प्रभु बोले — इन सब दोषों को देखकर भला कौन प्रसन्न होगा? उन्होंने कहा — आप चाहें तो एक बात पर प्रसन्न हो सकते हैं। — किस बात पर? — इस बात पर कि सब दोष होते हुए भी मैंने कुछ छिपाया नहीं, सब कुछ कह दिया —

मैं निज दोष कछूं नहीं गोयो। २४५/४

— अच्छा, अब चाहते क्या हो? गोस्वामीजी ने कहा — प्रभो, मैं दोषों से हार गया हूँ, अब तो आप ही इन्हें दूर कर सकते हैं, आप मुझे इन दोषों से मुक्त कीजिए।

एक और अन्य पद में बड़ी मधुर शैली में कहते हैं — प्रभो, मैं आपको भला दोष कैसे दूँ, सारा दोष तो मेरा ही है —

कैसे देउँ नाथहिं खोरि। १५८

इसमें गोस्वामीजी ने बड़ी सूक्ष्मता से मन का विश्लेषण करते हुए कहा है —

काम लोलुप भ्रमत मन हरि भगति परिहरि तोरि।

देखिए, मेरे मन की क्या दशा है —

बहुत प्रीति पुजाइबे पर पूजिबे पर थोरि।

— मैं दूसरों से तो बहुत सम्मान चाहता हूँ। चाहता हूँ कि लोग मेरी पूजा करें, पर मैं स्वयं कभी किसी की पूजा नहीं करना चाहता। प्रभु मुस्कराकर बोले — तुम अपने मन को समझाते क्यों नहीं? बोले —

देत सिख सिखयो न मानस मूढ़ता अस मोरि।

— मेरी मूर्खता ऐसी है कि मैं समझकर भी स्वयं को रोक नहीं पाता। — अच्छा कुछ सत्कर्म करते हो या नहीं? इस पर गोस्वामीजी ने बड़ा सुन्दर दृष्टान्त दिया —

करौं जो कछु धरौं सचि-पचि सुकृत सिला बटोरि।

जब खेत में फसल काटी जाती है, तब कुछ दाने खेत में ही गिर जाते हैं, उसे सिला कहते हैं। सारा धान तो किसान उठा ले जाता है, किन्तु जो दाने खेत में पड़े रह जाते हैं, उन्हें बाद में गरीब लोग एक एक दाना चुनकर एकत्र कर लेते हैं और उसी से किसी तरह अपना पेट भरते हैं। संस्कृत में इसे 'शीलोच्छवृत्ति' कहते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं — महाराज, मैं पुण्य की खेती नहीं करता, पर जो लोग पुण्य की खेती करते हैं, उनके खेत में जो दाने पड़े रह जाते हैं, उन्हीं पुण्य के दानों को मैं एकत्रित कर लेता हूँ। प्रभु बोले — चलो, कुछ दाने तो एकत्रित कर लिए! बोले — महाराज, लेकिन वह भी बचता कहाँ है? उसे भी चोर चुरा ले जाता है। कौन है वह चोर?

करौं जो कछु धरौं सचिपचि सुकृत-सिला बटोरि।

पैठि उर बरबस दयानिधि दंभ लेत अँजोरि।

— महाराज, दिखाने के लिए जो थोड़ा बहुत पुण्य मैं करता भी हूँ, तो वह भी दम्भ के कारण नष्ट हो जाता है। मेरे जीवन में सत्कर्म केवल प्रदर्शन मात्र है, वास्तविक सत्कर्म नहीं है।

बात कहौं बनाइ बुध ज्यों, बर बिराग निचोरि।

— जब बातें करता हूँ, भाषण देता हूँ, तब तो वैराग्यपूर्ण शब्दों का प्रयोग करता हूँ, परन्तु —

लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों गरे आसा डोरि।

— मेरे मन की दशा ऐसी है कि लोभ मुझे रस्सी से बँधे हुए बन्दर की तरह नचा रहा है। गोस्वामीजी एक के बाद एक दोष गिनाने लगे — यह दोष है, यह दोष है। भगवान बोले — तब तो तुम्हें बड़ी निराशा होती होगी कि मुझे प्रसन्न करने योग्य तुममें कोई गुण नहीं है। बोले — नहीं महाराज, ऐसी बात नहीं है, मेरे इन दोषों में भी एक ऐसी बात है, जिसे देखकर आप प्रसन्न हो जाएँगे। — क्या? बोले — मैं सबको यही बताता फिरता हूँ कि मैं आपका दास हूँ। लोग मुझे इसी नाम से जानते हैं कि मैं आपका हूँ। भगवान बोले — इतने दोष होने पर भी तुम लोगों से ऐसा कहते हो, तुम्हें लज्जा नहीं आती? बोले —

एतेहुं पर तुम्हरो कहावत लाज अँचई घोरि।

— लज्जा को तो मैं घोलकर पी गया हूँ। — अब क्या चाहते हो? बोले —

निलजता पर रीझि रघुबर, देहु तुलसिहिं छोरि।

— महाराज, इतना निर्लज्ज तो आपको कोई मिलेगा नहीं, इसलिए गुण न सही, मेरी इस निर्लज्जता पर ही रीझकर, प्रसन्न होकर मुझ पर कृपा कीजिए। देख लीजिए, मैने आपसे कुछ नहीं छिपाया। यही साधक की वृत्ति है। इसका अभिप्राय यह है कि साधक अपने अन्तर्मन के दोषों को देखे और सरल तथा निष्कपट भाव से उन दोषों को प्रभु के चरणों में निवेदित कर दे। इससे उसके मन में भगवान के प्रति प्रगाढ़ भक्ति, विश्वास और आस्था बनी रहेगी कि यद्यपि मुझमें दोष है पर भगवान की भक्ति और उनकी कृपा से मेरे सारे दोष दूर हो जाएँगे। (क्रमशः)

☐

अपील

श्रीरामकृष्ण मठ
मयलापुर,
मद्रास - ६००००४

स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा से १८९७ ई० में इस मठ की स्थापना हुई। अगले वर्ष यह अपने बहुमुखी सेवाकार्यों की शताब्दी मनाने जा रहा है। भक्तों एवं अनुरागियों की बहुत दिनों से इच्छा के रूपायन हेतु इस मठ में श्रीरामकृष्ण का एक भव्य मन्दिर बनाने का कार्य आरम्भ हुआ है। समन्वयाचार्य श्रीरामकृष्ण का जीवन तथा सन्देश जैसे वर्तमान युग के सभी धर्मों के अनुयायियों के लिये प्रेरणाकेन्द्र है, वैसे ही उनका यह मन्दिर भी एक सार्वभौमिक उपासना का स्थान होगा।

श्रीरामकृष्ण के अन्य मन्दिरों तथा परम्परागत दक्षिण भारतीय स्थापत्य के सम्मिश्रण से बन रहे इस मन्दिर में लगभग १००० भक्त एक साथ बैठकर प्रार्थना तथा ध्यान कर सकेंगे। ग्रैनाइट पत्थर से बननेवाले इस मन्दिर पर लगभग चार करोड़ रुपयों की लागत आयेगी।

रामकृष्ण संघ के वर्तमान अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने १ दिसम्बर, १९९४ ई० को मन्दिर की आधारशिला रखी। निर्माण-कार्य आरम्भ हो चुका है और सन्तोषजनक रूप से प्रगति पर है।

इस विराट् पुनीत कार्य में समाज के सभी स्तर के लोगों की शुभेच्छा तथा सहयोग की अपेक्षा है। उदारतापूर्वक दान के द्वारा इस परियोजना में हाथ बँटाने के लिए हम आप सभी को आमंत्रित करते हैं। आपका दान कृतज्ञता के साथ स्वीकृत एवं सूचित किया जायगा। रेखांकित चेक या ड्राफ्ट 'RAMAKRISHNA MATH, MADRAS' के नाम से बनवाकर भेजे जा सकते हैं। ये दान धारा ८०- G के अन्तर्गत आयकर से मुक्त होंगे।

स्वामी गौतमानन्द
अध्यक्ष

सम्पर्क सूत्र : श्री रामकृष्ण मठ, मयलापुर, मद्रास-4
Phone : 494 1959, 494 1231, Fax : 493 4589

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण

मार्या ब्राउन फिंके

नवम्बर, १९३५ ई० के प्रारम्भ में कलकत्ता पहुँचकर मैंने पहली बार भारतभूमि पर पदार्पण किया। मैंने जब अमेरिका स्थित अपने गृह से भूमण्डल की परिक्रमा करते हुए पश्चिम की ओर प्रस्थान किया तो विभिन्न देशों से गुजरते हुए मैंने अपने आपको एक सैलानी मात्र समझा था। केवल भारत पहुँचने के बाद ही मुझे बोध हुआ कि मैं एक तीर्थयात्री हूँ। वहाँ उतरने के अगले दिन ही मैं एक तीर्थयात्री के रूप में महामहिम स्वामी विवेकानन्द की समाधि पर श्रद्धापूर्वक सिर झुकाने गंगा के उस पार स्थित बेलुड़ मठ गयी। वहाँ अतिथि-निवास के ऊपरी कक्ष में उनकी निष्ठावान मित्र कुमारी जोसेफिन मैक्लाउड से मेरी भेंट हुई। मैं वहाँ के और भी कई संन्यासियों से मिली। जब मैंने उन लोगों को बताया कि मैं स्वामी विवेकानन्द से परिचित थी, तो उस सुदूर हुई मुलाकात के बारे में सुनने की उनकी उत्सुकता देखकर मैं विस्मित रह गयी। मेरे लिए तो यह वस्तुतः जीवन के प्रबलतम प्रभावों में से एक था, परन्तु क्या दूसरों के लिए भी इसका कोई तात्पर्य हो सकता है? और चूँकि उन लोगों ने मुझे विश्वास दिलाया कि अवश्य हो सकता है, मैं अब बयालिस वर्षों बाद उन महामानव के प्रभाव में आये हुए अपने उन दो दिनों की स्मृतियाँ लिपिबद्ध करने जा रही हूँ।

कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज की चतुश्शती मनाने के लिए १८९३ ई० के सितम्बर माह में वहाँ की शिकागो नगरी में एक विश्वमेले का आयोजन किया गया था और धर्म-महासभा उसी के कार्यक्रम का एक हिस्सा था। एक अज्ञात हिन्दू संन्यासी स्वामी विवेकानन्द ने इसी में भाग लेने के लिए वहाँ की यात्रा की थी। अपने व्यक्तित्व के सम्मोहन तथा अपने सार्वभौमिक सन्देश के द्वारा वहाँ के श्रोताओं को उन्होंने जिस प्रकार प्रभावित किया, वह सर्वविदित है।

महासभा की समाप्ति के बाद स्वामीजी ने अपने व्यक्तिगत मित्रों की उदार सहायता से मुक्त होकर उस देश की यात्रा करने के लिए व्याख्यानों की व्यवस्था करनेवाली एक कम्पनी के साथ अनुबन्ध किया। पूर्व से आरम्भ करके नवम्बर के प्रारम्भ में वे मासाचुसेट्स के नार्दम्पटन कस्बे में आये। यह प्राचीन मनोहर नगरी न्यूयार्क तथा बॉस्टन के बीच स्थित है और कैल्विन कूलिज के घर के रूप में

महत्वपूर्ण है, जो कि कनेक्टिकट घाटी की निचली पहाड़ियों पर स्थित है, जहाँ से होकर नदी टॉम तथा हाल्योक पर्वतों के बीच की खाई में गिरती है। बाढ़ के दिनों में नगर के नीचे चारों ओर फैले चरागाह जल के आवरण से चमकते हैं और हाल्योक पर्वतमाला का बैगनी रूपरेखा दक्षिणी क्षितिज का रूप धारण कर लोती है। सड़कों के किनारे शानदार एल्म के वृक्षों की कतार है और छात्रों की सक्रियता से बीच बीच में उसके जाग उठने के अतिरिक्त यह स्थान तब निद्रालु-सा दिख पड़ता था। महिलाओं का एक कॉलेज इसके बौद्धिक जीवन का केन्द्र था। १८७५ ई० में सोफिया स्मिथ ने महिलाओं की उच्च शिक्षा हेतु इस स्मिथ कॉलेज की स्थापना की थी।

१८९३ ई० में मैंने एक अट्ठारह वर्ष की अपरिपक्व बालिका के रूप में इस कॉलेज में प्रवेश लिया, उन दिनों मैं कोई अनुशासन नहीं मानती थी, परन्तु मनो तथा आत्मिक जगत में सत्यलाभ के लिए अतीव उत्सुक थी। बड़े कठोर प्रोटेस्टेण्ट ईसाई कट्टरवादिता के सुरक्षित वातावरण में पली होने के कारण काफी आशंकाओं के साथ ही मेरे माता-पिता मुझे घर से विदा करके तथाकथित 'स्वाधीन विचारों' के खतरों के बीच छोड़ने को राजी हुए थे। अभी पिछले साल ही तो मेरी एक सहेली वसार कॉलेज गयी थी और ऐसी अफवाह उड़ी कि वह अपनी श्रद्धा खो बैठी है।

कॉलेज के छात्रावास में सबके लिए पर्याप्त स्थान न हो पाने के कारण मैं तीन अन्य छात्राओं के साथ परिसर के बाहर स्थित एक वर्गाकार बादामी रंग के मकान में निवास करती थी। यह भवन एक ऐसी महिला के रख-रखाव में था, जिनके निरंकुश शासन के बावजूद उनके स्वाधीन भाव तथा हँसमुख स्वभाव ने उन्हें हमारा प्रिय बना दिया था। कॉलेज में प्रायः ही ऐसे व्याख्यान हुआ करते थे, जिनमें समस्त छात्रों की उपस्थिति अनिवार्य थी और बहुत से सुविख्यात विचारक हमारे बीच आते रहते थे।

अप्रैल की बुलेटिन में छपा कि स्वामी विवेकानन्द वहाँ दो सांध्य व्याख्यान देंगे। हम लोग केवल इतना ही जानती थीं कि वे एक हिन्दू संन्यासी हैं, बस इससे अधिक और कुछ नहीं, क्योंकि हाल ही में सम्पन्न हुई धर्ममहासभा की ख्याति हमारे कानों तक नहीं पहुँची थी। उसके बाद एक उद्दीपक समाचार यह भी सुनने में आया कि वे हमारे ही भवन में ठहरेंगे, हमारे ही साथ भोजन करेंगे और हम उनसे

जो चाहे प्रश्न कर सकेंगी। हमारी गृहस्वामिनी की अतीव उदारता का परिचय इसी तथ्य से मिल जाता है कि उन्होंने एक ऐसे अश्वेत व्यक्ति का अपने घर में स्वागत किया, जिन्हें निश्चय ही किसी होटल में स्थान नहीं मिलता। काफी काल बाद यहाँ तक कि १९१२ ई० में भी महान कवि टैगोर तथा उनके साथियों को आश्रय की खोज में न्यूयार्क की सड़कों पर निष्फल भटकना पड़ा था!

अत्यन्त बाल्यकाल से ही भारत का नाम मेरे लिए सुपरिचित था। क्योंकि मेरी माँ ने एक ऐसे युवक से विवाह करना लगभग निश्चित कर लिया था, जो मिशनरी के रूप में भारत गया और प्रतिवर्ष हमारे मिशनरी चर्च एसोशिएशन की ओर से भी भारतीय स्त्रियों के लिए एक बक्सा भेजा जाता था। हमारी दृष्टि में भारत एक ऐसा गरम देश था जहाँ साँपों की बहुतायत थी और जहाँ "मूर्तिपूजक अपने अन्धविश्वास के चलते काष्ट-पत्थर के सामने सिर नवाते थे।" यह एक बड़े ही विस्मय की बात है कि मेरे समान एक उत्सुक पाठिका भी उस महान देश के इतिहास या साहित्य के साथ कितनी कम परिचित थी। मैंने विलियम कैरी की जीवनी पढ़ी थी और गोवा के सेण्ट फ्रांसिस जेवियर के बारे में भी सुन रखा था, परन्तु यह सब मिशनरी दृष्टिकोण से हुआ था। आपको याद दिला दूँ कि 'किम' का तब तक प्रकाशन नही हुआ था। अतः एक वास्तविक भारतवासी से बात कर पाना सचमुच ही एक बड़े संयोग की बात थी।

नियत दिन आ पहुँचा, छोटा-सा अतिथि-कक्ष तैयार था और एक महामहिम व्यक्तित्व ने हमारे भवन में प्रवेश किया। उन्होंने काले रंग का प्रिंस अल्बर्ट कोट और काले ही रंग का पतलून पहन रखा था। उनके सुगठित मस्तक पर जटिल घुमावों के साथ पीली पगड़ी बँधी हुई थी। परन्तु अबोधगम्य भावों से युक्त उनका चेहरा, ज्योति से परिपूर्ण आँखें और उनसे निःस्रित होती शक्ति वर्णनातीत थी। हम सभी भौचक्की तथा मौन रह गईं, परन्तु हमारी गृहस्वामिनी सहज ही अभिभूत होनेवाली न थीं और उन्होंने स्वामीजी के साथ जोरदार चर्चा की। मैं स्वामीजी के बगल में ही बैठी थी, परन्तु श्रद्धा के अतिरेक में मैं एक शब्द भी नहीं बोल सकी।

उस संध्या के व्याख्यान के विषय में मुझे कुछ स्मरण नहीं। लाल पोशाक, नारंगी वेष्ठन तथा पीली पगड़ी धारण किये उस भव्य व्यक्तित्व और गम्भीर स्वर से समृद्ध उनकी अधिकारपूर्ण अंग्रेजी भाषा की तो मुझे याद है, परन्तु उनके विचार या तो मेरे दिमाग में बैठे नहीं, अथवा इस लम्बे अर्से के दौरान मैं उन्हें भूल चुकी

हूँ। तथापि उनके व्याख्यान के बाद होनेवाली एक विचारगोष्ठी के बारे में मुझे स्मरण है।

उस समय कॉलेज के अध्यक्ष, दर्शन विभाग के प्रमुख, कई प्राध्यापक, नार्दम्पटन की चर्चों के कुछ पादरी तथा एक सुविख्यात लेखक हमारे भवन में पधारे थे। हम बालिकाएँ उस रिहायसी कमरे के एक कोने में चुहियों के समान बैठी हुई थीं और बाद में होनेवाली परिचर्चा को हमने बड़ी उत्सुकता के साथ सुना। उसका विस्तृत विवरण देना तो मेरी क्षमता के परे है, परन्तु मुझे पूरा विश्वास है कि उस दिन परिचर्चा का विषय था — 'ईसाई धर्म और क्यों वही एकमात्र सच्चा धर्म है।' यह विषय स्वामीजी ने चुना हो ऐसी बात नहीं थी। जब उनका भव्य व्यक्तित्व इन काले कोटधारी तथा संयमी-से प्रतीत होनेवाले सज्जनों के सम्मुखीन हुआ, तो ऐसा लग रहा था मानो उन्हें चुनौती दी जा रही हो। हमारे अंचल के इन विचार-नायकों को निश्चित रूप से एक अनुचित सुविधा प्राप्त थी। ये लोग अपने बाइबिल तथा यूरोपीय दर्शनशास्त्रों और साथ ही कवियों तथा व्याख्याकारों से भी भलिभाँति परिचित थे। सुदूर देश से आया वह हिन्दू अपने ज्ञान में चाहे जितना भी अधिकार रखता हो, हमारे शास्त्रों में पारंगत इन विद्वानों के समक्ष उसके टिक पाने की भला क्या आशा थी? परन्तु इसका जो अद्भुत परिणाम निकला, वह पूर्णतः मेरी निजी धारणा होने पर भी उसकी प्रचण्डता के बारे में मैं अतिशयोक्ति नहीं कर रही हूँ।

बाइबिल से उद्धरणों के प्रत्युत्तर में स्वामीजी ने उसी ग्रन्थ से और भी युक्तियुक्त उद्धरण दिये। अपने पक्ष के समर्थन में उन्होंने अंग्रेज दार्शनिकों तथा धर्म-विषयक लेखकों के उद्धरण दिये। यहाँ तक कि कवियों से भी वे भलीभाँति परिचित थे और उन्होंने वर्डसवर्थ तथा टॉमस ग्रे की कविताएँ उद्धृत कीं। मेरे अपने ही जग के लोगों के प्रति मेरी सहानुभूति क्यों नहीं हुई? स्वामीजी ने जब धर्म के क्षेत्र का विस्तार करते हुए सम्पूर्ण मानवजाति को उसमें समेट लिया, तब उस कक्ष में स्वाधीनता की जो मुक्त वायु प्रवाहित होने लगी, क्यों मैं उसमें आह्लादित हो उठी थी? कहीं ऐसा तो नहीं था कि मेरी अपनी भावनाएँ ही उनके शब्दों में प्रतिध्वनित हुई, या क्या यह केवल उनके व्यक्तित्व का जादू था? कह नहीं सकती, मैं तो केवल इतना ही जानती हूँ कि उनके विजय पर मुझे गर्व का अनुभव हुआ था। बेलुड़ मठ के एक संन्यासी ने कहा था कि उनकी दृष्टि में स्वामीजी प्रेम की प्रतिमूर्ति हैं। उस रात वे मुझे शक्ति की प्रतिमूर्ति लगे थे। मुझे लगता है कि अपने बाद के

अनुभव से मैं इसकी व्याख्या कर सकती हूँ। निःसन्देह हमारे कॉलेज-जगत की ये महान हस्तियाँ संकीर्ण मनोवृत्ति की थीं और उनकी निष्ठा के द्वार बन्द हो चुके थे, अपनी ही 'विद्या के गर्व में चूर थे'। वे भला (गीता की) यह बात कैसे स्वीकार कर पाते — "जो कोई जिस रूप में भी मेरी उपासना करता है, उसे मैं उसी रूप में प्राप्त होता हूँ।" अभी हाल ही में शिकागो में भी स्वामीजी को ईसाई मिशनरियों के विद्वेष का सामना करना पड़ा था और जब उन्होंने पाश्चात्य विद्या के इन प्रतिनिधियों में भी वही भाव देखा, तो उनकी वाणी कठोर हो गयी। यद्यपि उन लोगों को प्रेम की भाषा मान्य न थी, परन्तु असहमति के बावजूद वे शक्ति के सामन लाचार थे। परम सौजन्यता से आरम्भ हुई परिचर्चा, क्रमशः कड़वाहट में परिणत होने लगी और जब ईसाई धर्म के संरक्षकों को अनुभव हुआ कि बाजी उनके हाथ से निकली जा रही है, तो फिर उसमें तिक्तता का प्रवेश हुआ। उस दिन मेरे हृदय में विजय के फलस्वरूप जो आह्लाद प्रगट हुआ, वह आज भी बना हुआ है।

अगले दिन बड़े सबेरे स्नानागार में पानी गिरने की जोर की आवाज के साथ-साथ एक अज्ञात भाषा में उच्चरित होनेवाली गम्भीर स्वरधारा कानों में प्रविष्ट हुई। हम सभी दरवाजे से कान लगाकर सुनने लगीं। जलपान के समय उस मंत्रपाठ की बावत पूछने पर उन्होंने बताया, "जल को पहले मैं मस्तक, फिर सीने पर डालता हूँ और हर बार उसके साथ मैं जगत के समस्त प्राणियों के कल्याण हेतु प्रार्थना करता हूँ।" यह बात मेरे हृदय में दृढ़तापूर्वक अंकित हो गयी। मैं भी हर सुबह प्रार्थना करती थी, पर पहले अपने लिए और तदुपरान्त अपने परिवार के लिए, परन्तु समग्र मानवजाति को अपना परिवार मानकर अपने पहले उन्हीं को रखने की बात कभी मेरे मन में नहीं आयी थी।

जलपान के बाद स्वामीजी ने थोड़ा टहलने की इच्छा व्यक्त की। तब उनके दोनों ओर दो दो करके हम चार छात्राएँ उस गौरवमय व्यक्तित्व के साथ सड़कों पर चलने लगीं। चलते चलते हमने संकोच के साथ कोई विषय छेड़ने का प्रयास किया और उन्होंने अपनी धवल दन्त-पंक्तियों के बीच से मुस्कान बिखेरते हुए तत्काल उत्तर दिया। मुझे उसमें से केवल एक ही बात याद है। ईसाई मतवाद के प्रसंग में उन्होंने कहा था कि सर्वदा "ईसा मसीह के रक्त" का उल्लेख उन्हें बड़ा ही बीभत्स प्रतीत होता है। इससे मुझे चिन्तन करने को एक विषय मिल गया। "रक्त से भरा हुआ एक पात्र है, जो इम्यूनल की शिराओं से निकाला गया है" — इस

स्तोत्र से मैं सदा ही घृणा करती थी, परन्तु जरा उनका दुस्साहस तो देखिए — वे चर्च द्वारा स्वीकृत एक सिद्धान्त की समालोचना कर रहे थे। इस स्वाधीनता-प्रिय आत्मा के द्वारा जागृति आने के बाद ही निश्चित रूप से मेरे "मुक्त-चिन्तन" की शुरुआत हुई। उन्होंने अपने व्याख्यान के दौरान हिन्दुओं के पवित्र ग्रंथ वेदों का उल्लेख किया था। मैंने वार्तालाप को उसी दिशा में मोड़ा। उन्होंने मुझे स्वयं ही यथासम्भव उसके मूल रूप में उसे पढ़ने की सलाह दी। मैंने तत्काल संस्कृत भाषा सीखने का संकल्प किया, परन्तु खेद की बात है कि मैं कभी उसे पूरा नहीं कर सकी। जहाँ तक बाहरी परिणाम का सवाल है — मैं एक ऐसी उत्तम बीज साबित हुई जिसे काँटों ने विकसित नहीं होने दिया।

वेद-विषयक उनकी सलाह का एक हास्यास्पद-सा फल हुआ था, जिसका यहाँ उल्लेख करना उचित होगा। अगले साल गर्मियों में हमारे पारिवारिक गोशाले में एक छोटा-सा सुन्दर गर्नसी बछड़ा पैदा हुआ।जब मेरे पिता ने इसे मुझको सौंपा, तो मैंने उसे 'वेद' का नाम दिया था। दुर्भाग्यवश वह बछड़ा केवल कुछ ही महीने जीया और मेरे पिता का मत था कि उसके नाम ने ही उसे मार डाला है।

अगले व्याख्यान के बारे में मैं कुछ भी नहीं कह सकती। महान स्वामीजी वहाँ से चले गये और मैंने फिर कभी उन्हें नहीं देखा। यहाँ तक कि अपने देश में उनकी आगे की यात्राएँ भी मेरे ध्यान से उतर गयीं और मुझे यह भी नहीं पता चला कि दो वर्ष बाद एक बार पुनः वे हमारे देश में आये थे। इसके बावजूद दो दिनों की उनकी उस सशक्त उपस्थिति ने मेरे बाकी जीवन को निश्चित रूप से प्रभावित किया है। मैंने उनके इस आगमन का विस्तार से वर्णन करते हुए अपने घर एक पत्र लिखा, जिसमें मैंने अपनी भावनाओं को इतने प्रवल रूप से व्यक्त किया था कि मेरे पिता चिन्तित हो उठे थे। उन्हें आशंका हुई कि मैं अपना धर्म छोड़कर कहीं स्वामीजी की शिष्या न बन जाऊँ। उत्तर में उन्होंने युक्तियाँ दी थीं और मेरा उपहास भी किया था। मैं अपने पिता के प्रति बड़े श्रद्धा का भाव रखती थी और भविष्य में उन्हें चिन्ता से बचाने के लिए मैंने अपने नये विचार स्वयं तक ही सीमित रखने लगी और उन्हें व्यक्त करना बन्द कर दिया।

मैं बहुधा अपने उस खोये हुए समय के बारे में सोचती हूँ, जो मैंने घुमावदार रास्ते में टटोलते हुए बिता दिये, जबकि ऐसे पथप्रदर्शन के द्वारा मैं सीधे लक्ष्य की ओर ध्यान दे सकती थी। परन्तु अमर आत्मा के लिए पश्चात्ताप में समय गँवाना

बुद्धिमत्ता नहीं, बल्कि चल पड़ना ही महत्वपूर्ण है।

हम पढ़ते हैं कि मिस्र के मकबरों में रखे हुए बीज हजारों वर्ष से जमीन में दबे पड़े हैं, तो भी उनमें इतनी जीवनी-शक्ति विद्यमान है कि बोये जाने पर वे आज भी अंकुरित होते हैं। मेरे मन तथा हृदय के सुदूर स्मृतियों में निर्जीव से पड़े उन भारतीय महापुरुष ने पिछले साल से नयी नयी कोपले उत्पन्न करना आरम्भ कर दिया है। आखिरकार यह मुझे इस देश में ले आया है। सुखों से मिश्रित कष्ट, उत्तरदायित्व तथा संघर्ष से परिपूर्ण बीच के वर्षों के दौरान मेरी अन्तरात्मा इधर उधर के सिद्धान्तों को टटोलती रही है, कि कहीं उसी के साथ तो मैं जीवन बिताना नहीं चाहती। हर बार कोई न कोई असन्तोष ही उसका फल हुआ है। जिस स्वाधीनता की मेरी आत्मा को इतनी लालसा है, उसे पुरातनपन्थी श्रद्धालुओं द्वारा अत्यन्त महत्वपूर्ण माने जानेवाले मतवाद तथा अनुष्ठान मुझे अत्यन्त महत्वहीन तथा घुटन-भरे प्रतीत होते हैं।

स्वामीजी द्वारा प्रचारित सार्वभौमिक सन्देश को मेरी अन्तरात्मा अत्यन्त सन्तोषजनक पाती है। ईश्वर हमारे भीतर हैं, प्रारम्भ से ही हम ईश्वर के ही अंश हैं और यह प्रत्येक व्यक्ति के मामले में सत्य है — इस विश्वास से बढ़कर किसी को और क्या चाह हो सकती है? भारत की धरती पर इसे पाकर मुझे ऐसा महसूस होता है मानो मैं अपने घर आ गयी होऊँ।

सच्ची आस्तिकता

भले ही कोई व्यक्ति संसार के सारे सम्प्रदायों में विश्वास रखता हो, समस्त धर्मग्रन्थों का ज्ञान वहन करता हो, अथवा संसार की सभी पवित्र नदियों में स्नान कर पुण्य कमा चुका हो; पर यदि उसे ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हुआ है, तो मैं उसे परले सिरे का नास्तिक मानूँगा। और यदि कोई कभी किसी गिरजाघर या मस्जिद में न गया हो, न उसने कभी कोई पूजादि कर्म किया हो, फिर भी अपने भीतर ईश्वर को अनुभव करता हो और इस तरह संसार के आडम्बरों से ऊपर उठ चुका हो, तो वह वस्तुतः सच्चा साधु है, चाहे तुम उसे जो भी कहो।

— स्वामी विवेकानन्द

रामकृष्ण मठ
मालदा ७३२-१०१
(प. बंगाल)

अपील

मित्रो,

'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' -- इस महामंत्र को आदर्श बनाकर बेलुड़ में रामकृष्ण मठ तथा मिशन की स्थापना हुई। संघजननी श्री सारदा देवी का आशीर्वाद लेकर १९१४ ई. में श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग पार्षद पूज्यपाद स्वामी प्रेमानन्द जी महाराज मालदा पधारे थे। उनकी प्रेरणा से इस अंचल में जिस उत्साह की सृष्टि हुई, उसके फलस्वरूप १९२४ ई. में बेलुड़ मठ की एक शाखा के रूप में श्रीरामकृष्ण मठ, मालदा की स्थापना हुई। अथक भाव से शिक्षा-प्रसार तथा जनसेवा करना ही इस संस्था मूल उद्देश्य है।

पिछले कुछ वर्षों के दौरान आयी बाढ़ से पुराने मन्दिर को काफी नुकसान पहुँचा है। अतः विशेषज्ञों की सलाह तथा भक्तों के प्रोत्साहन पर हमने एक नये मन्दिर का निर्माण प्रारम्भ किया है। रामकृष्ण मठ तथा मिशन के सहाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी गहनानन्दजी महाराज ने १ जुलाई, १९९३ ई. को इसकी आधारशिला रखी और हमें यह सूचित करते हुए हर्ष हो रहा है कि ११ नवम्बर, १९९४ ई. को, जगद्धात्री पूजा के दिन से मन्दिर का शुभ निर्माण-कार्य आरम्भ भी हो गया है। श्रीरामकृष्ण की असीम अनुकम्पा और सन्तों, भक्तों तथा शुभाकांक्षियों के सहयोग से निर्माण पूरी गति के साथ चल रहा है। बढ़ती महँगाई को ध्यान में रखते हुए कार्य की गति में वृद्धि लाना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त हमने १९९७-९८ ई. में मन्दिर के उद्घाटन की योजना भी बनाई है, जो स्वामी विवेकानन्द द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन का शताब्दी वर्ष भी है और निश्चय ही भक्तों के लिए यह एक अविस्मरणीय अवसर सिद्ध होगा।

सभी उदारमना व्यक्तियों से हमारा हार्दिक अनुरोध है कि वे इस महान सत्कार्य में अग्रसर होकर यथासाध्य सहायता करें। इस कार्य के लिए दान नकद, मनिआर्डर, चेक या ड्राफ्ट के द्वारा "रामकृष्ण मठ मन्दिर निर्माण, मालदा" के नाम भेजे जा सकते हैं। ये दान आयकर की धारा ८० जी. के अन्तर्गत आयकर से मुक्त होंगे।

सबसे हार्दिक सहयोग की अपेक्षा है।

भवदीय
स्वामी मंगलानन्द

दिनांक २६ मार्च, १९९६

श्रीरामकृष्ण - वचनामृत - प्रसंग

(छप्पनवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्द रामकृष्ण मठ-मिशन बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ तथा बाद में रामकृष्ण योगाद्यान, काकुड़गाछी, कलकत्ता में 'श्रीरामकृष्ण कथामृत' पर बँगला में धारावाहिक रूप से चर्चा की थी, जिन्हें संग्रहित कर छह भागों में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता को देखते हुए हम भी इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। इसके हिन्दी अनुवादक श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। - सं.)

मन-वाणी से अतीत अखण्ड सच्चिदानन्द हमारे बीच मनुष्य के रूप में आते हैं -- यह बात हमारी कल्पना के परे है। भगवान के उस सर्वव्यापी विश्वरूप को देखने की शक्ति या साहस किसमें है? इसीलिए वे मानव के रूप में अवतीर्ण होते हैं। वे मनुष्य बनकर आते हैं इसलिए मनुष्य उनके पास जा सकता हैं, उनसे प्रेम कर सकता है, नहीं तो मनुष्य की भला क्या बिसात जो वह वाक्य-मन से अतीत ब्रह्मवस्तु पर कल्पना में भी विचार कर सके?

इसी बीच कोन्नगर से भक्तगण खोल-करताल लिए संकीर्तन करते हुए आ पहुँचे हैं। ठाकुर प्रेमोन्मत्त होकर नृत्य कर रहे हैं। श्री चैतन्यदेव की तरह उनकी भी कभी अन्तर्दशा, कभी अर्धबाह्य दशा, फिर कभी बाह्य दशा हो रही है। भावावस्था में चैतन्यदेव को भी ऐसा ही होता था। चैतन्य चरितामृत आदि ग्रन्थों में इसका उल्लेख है। मास्टर महाशय ठाकुर की इन अवस्थाओं में मानों चैतन्यदेव के उन्हीं भावों को देख पा रहे हैं।

थोड़ी देर बाद ठाकुर को नया पीताम्बर पहनाया गया। आज भी बेलुड़ मठ में तिथिपूजा के दिन ठाकुर को पीताम्बर पहनाया जाता है। उनके आनन्दमय देवदुर्लभ पवित्र मोहिनी मूर्ति को देखकर भक्तों के मन में उन्हें बारम्बार देखते रहने की इच्छा होती। ठाकुर भोजन के लिए बैठे। भक्तों ने भी आनन्दपूर्वक प्रसाद ग्रहण किया।

भोजन के उपरान्त ठाकुर छोटे तख्त पर बैठे हैं। कमरे के फर्श पर भक्तगण

बैठे हैं। बाहर बरामदे में भी लोग हैं।

नाम-माहात्म्य

एक वैष्णव गोस्वामी आए हैं। कलि में नाम-माहात्म्य का प्रसंग उठने पर ठाकुर गोस्वामी से कहते हैं, "नाम की बड़ी महिमा तो है, पर बिना अनुराग के भला क्या होगा? केवल नाम लेता जा रहा हूँ, पर चित्त कामिनी-कांचन में है, इससे भला क्या होगा?" ठाकुर ने नाम-माहात्म्य शब्द पर अधिक जोर नहीं दिया। नाम का प्रतिपाद्य वस्तु जो है, उसका मन में उठना आवश्यक है। साधारणतः कहा जाता है — 'हेलया श्रद्धया वा' — भगवान का नाम जपने से ही हो जायगा। इस विषय में अजामिल का दृष्टान्त भी दिया जाता है। उसके पुत्र का नाम नारायण था। मृत्यु के समय अजामिल ने उसका नाम लेकर पुकारा था, इस कारण उसका उद्धार हो गया। 'नारायण' शब्द का उच्चारण हुआ था, इसीलिए वह मुक्त हो गया। मनुष्य के मन में श्रद्धा जगाने के लिए ही ऐसा कहा जाता है। वास्तविक जप के साथ उसके अर्थ का चिन्तन करना होगा, केवल जप करने की बात शास्त्र नहीं कहते। जिनको साधना करनी है, वे क्या केवल तोते की तरह नाम का उच्चारण किये जायेंगे? जो तोता हमेशा 'राधाकृष्ण' कहता है, वही बिल्ली के पकड़ते ही 'टें-टें' करने लगता है, 'राधाकृष्ण' नहीं कहता। उसके लिए तो 'राधाकृष्ण' मन्त्र नहीं, एक अर्थविहीन शब्द मात्र है। उस शब्द का तात्पर्य वह नहीं जानता। नाम-माहात्म्य का अर्थ यह है कि बुद्धि के द्वारा जब हम मन्त्र का अर्थ समझने का प्रयास करेंगे, तो बुद्धि को जैसा प्रतिभात होगा तदनुरूप नाम का चिन्तन करेंगे, नाम का माहात्म्य समझने का प्रयास करेंगे। इधर मैं जप कर रहा हूँ और मन उधर दुनिया भर में घूम रहा है, तो जप क्या ठीक-ठीक हुआ? नाम का चिन्तन करना होगा, जिनका नाम है उनका चिन्तन करना होगा। यद्यपि ठाकुर ने नाम-माहात्म्य के सम्बन्ध में जोर देकर कोई ऐसी बात नहीं कही, जिससे लोगों के विश्वास पर आघात पहुँचे। अजामिल के सन्दर्भ में उन्होंने कहा, "सम्भव है अजामिल के पूर्वजन्मों में बहुत-से कर्म किये रहे हों।"

ठाकुर ने और भी कहा कि नाम के साथ साथ 'अनुराग' के लिए भी प्रार्थना करनी होगी। साधना काल में जप-ध्यान करते समय यह बात विशेष रूप से स्मरण रखनी होगी। इसी साधना के द्वारा सिद्धि प्राप्त करनी है — यह याद रखना होगा। इसीलिए अनुराग चाहिए, चरित्र चाहिए। नाम-माहात्म्य में ऐसा विश्वास चाहिए जो

वह मन के ऊपर क्रियाशील हो।

हठधर्मिता

ठाकुर हमारे दोषों को दिखा रहे हैं। आन्तरिक होने पर सभी धर्मों के द्वारा भगवान मिलते हैं। वैष्णव, शाक्त, वेदान्ती, ब्रह्मज्ञानी, मुसलमान, ईसाई — सभी उन्हें पायेंगे। केवल हमारा ही धर्म ठीक है, बाकी सब का नहीं, यह 'हठधर्मिता' है। ईश्वर साकार है या निराकार — उन दिनों इसी बात को लेकर बड़ा मतभेद चल रहा था। ब्राह्मसमाज के प्रभाव से बहुत से लोगों ने विश्वास कर लिया था कि ईश्वर एक और निराकार हैं, इसके अतिरिक्त वे अन्य कुछ नहीं हो सकते। हम लोगों के ऊपर इस्लाम तथा ईसाई धर्मों का भी प्रभाव था। भगवान के साकार भाव की तरह तरह से खूब निन्दा की जाती थी।

इसीलिए ठाकुर कहते हैं, "जिसने दर्शन किये हैं, वह ठीक जानता है कि ईश्वर साकार भी हैं और निराकार भी; और भी वे कैसे-कैसे हैं, यह कौन बताये?"

जो लोग कहते हैं कि ईश्वर साकार नहीं हो सकते, वे किस आधार पर ऐसा कहते हैं? क्या उन्हें निराकार का अनुभव हुआ है? यदि अनुभव न हो, तो फिर वे कैसे कह सकते हैं कि 'ईश्वर दयामय हैं'? उनमें दयारूपी गुण हो — ऐसा वेदान्त से तो ज्ञात नहीं होता। वे निर्गुण हैं, अतः उन्हें दयामय नहीं कहा जा सकता। यह तो हमारी बातों और विचारों में भूल है। निराकार भला सगुण कैसे होंगे? सगुण-निराकार का चिन्तन भला हम कैसे करेंगे? मनुष्य की इस सीमित बुद्धि के द्वारा उन पर तर्क करना क्या सम्भव है?

ठाकुर ने इस तरह से विचार नहीं किया। उन्होंने विभिन्न भावों को लेकर उनकी साधना की और उन साधन-प्रणालियों के द्वारा इस चरम निष्कर्ष तक पहुँचे हैं कि आन्तरिक होने पर सभी धर्मों के द्वारा, सभी मार्गों से ईश्वर मिलते हैं। उन्होंने गिरगिट की उपमा दी है। जो आदमी वृक्ष के नीचे रहता है, वह उसके विभिन्न रंगों को देखकर समझ सकता है कि वह बहुरूपी है। उसके अनेक रंग हैं, फिर कभी कभी कोई रंग नहीं, निर्गुण है। फिर ठाकुर ने अन्धों द्वारा हाथी देखने का भी दृष्टान्त दिया है। दृष्टिहीन अन्धों ने अपने हाथों से हाथी के जिस जिस अंग का स्पर्श किया, उसी को सत्य मान लिया। वास्तव में सभी रूप सत्य है, किन्तु आंशिक रूप से। इस 'आंशिक' शब्द पर जोर देते ही हमारा आपसी विवाद दूर हो जायगा।

अवतार के रूप में ईश्वर देह धारण करके आते हैं और यह भी सत्य है कि वे विविध रूप धारण करके भक्तों को दर्शन देते हैं। फिर यह भी सत्य है कि निराकार-अखण्ड-सच्चिदानन्द वे सगुण तथा निर्गुण दोनों ही हैं। सच्चिदानन्द सागर में भक्ति की शीतलता से पानी जमकर बर्फ के रूप में तैरता है, इस प्रकार निराकार ब्रह्म का साकार रूप में दर्शन होता है; और फिर ज्ञानसूर्य का उदय होने पर बर्फ पिघलकर पूर्ववत निराकार जल मात्र रह जाता है। ब्रह्मसमुद्र में भगवान भक्त के भक्तिहिम से साकार रूप धारण करते हैं, फिर कभी ज्ञानी के लिए अखण्ड-सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप में ही रहते हैं। किसी किसी भक्त के लिए वे नित्य साकार हैं। श्रीरामकृष्ण की भाषा में वहाँ की बर्फ कभी गल्ती नहीं।

केदार कहते हैं कि भागवत में व्यासदेव ने भगवान से अपने तीन दोषों के लिए क्षमा माँगी हैं – 'रूपं रूपविवर्जितस्य भवतो ध्यानेन यत् कल्पितं' – तुम रूपहीन हो, परन्तु ध्यान के द्वारा मैंने तुम्हारे रूप की कल्पना की है। 'स्तुत्यानिर्वचनीयताऽखिलगुरो दूरीकृता यन्मया' – तुम वाणी के परे हो, इस जगत के गुरु हो, तुम्हारी स्तुति करके मैंने तुम्हारे अनिर्वचनीयता का खण्डन किया है। 'व्यापित्वञ्च निराकृतं भगवतो यत्तीर्थयात्रादिना' – तुम सर्वव्यापी हो, फिर भी मैंने तीर्थयात्रा आदि करके तुम्हारे सर्वव्यापित्व का खण्डन किया है। इसीलिए उन्होंने अपने इन तीन अपराधों के लिए क्षमायाचना की है।

ठाकुर कहते हैं, "ईश्वर साकार हैं और निराकार भी, फिर साकार-निराकार के परे भी हैं। उनकी इति नहीं की जा सकती।" जहाँ पर साकार-निराकार की सीमा समाप्त हो जाती है, वहाँ मन-वाणी स्तब्ध हो जाते हैं। उन मन-वाणी से अतीत का साधक अपने ही लिए वाणी के द्वारा वर्णन करते है। अनन्त, असीम तथा वाक्यमनातीत भगवान के इस भाव को ध्यान में रखकर अपनी अपूर्णता का स्मरण करते हुए विनीतभाव से हमें उनका चिन्तन करना होगा। इस तरह चिन्तन करने से कोई दोष नहीं होगा।
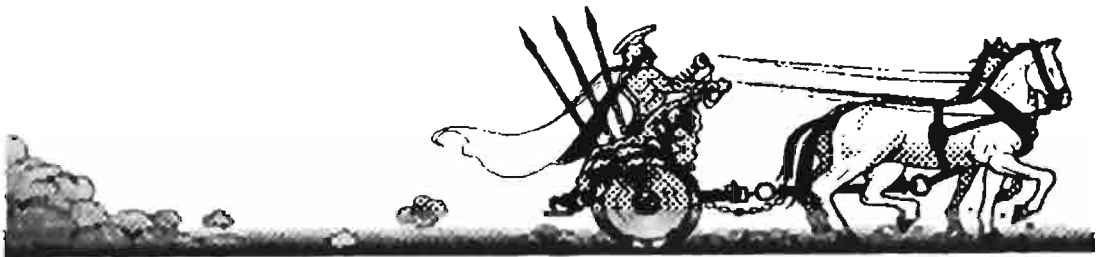
जीवन का लक्ष्य

(उन्नति और विश्वशांति का राजमार्ग)

स्वामी सत्यरूपानन्द

मनुष्य का जीवन एक अंतहीन यात्रा या अंधी दौड़ नहीं है। मनुष्य का जन्म जीवन में एक महान लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हुआ है। यह लक्ष्य क्या है? विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्दजी ने हमें बताया है कि मानव जीवन का लक्ष्य है अपने महान दिव्य स्वरूप की अनुभूति और अभिव्यक्ति। वे कहते हैं, ''प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं आंतरिक प्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्म भाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है।''

मानव जीवन की अशांति और दुखों का सबसे बड़ा कारण यही है कि मनुष्य आज लक्ष्यहीन जीवन जी रहा है या उसने अनित्य भौतिक सुखों को ही जीवन का चरम लक्ष्य मान लिया है। व्यक्ति और समाज दोनों के दुख और अशांति का कारण यही है। अतः आज की सर्वप्रथम आवश्यकता यही है कि हम मानव जीवन के इस महान उद्देश्य पर विचार करें। उस पर चिंतन और मनन करें तथा अपने आप की परीक्षा कर देखें कि कहीं हमारा जीवन एक लक्ष्यहीन अंधी दौड़ तो नहीं हो गया है। कहीं हम केवल भौतिक सुखों की ओर ही तो नहीं भाग रहे हैं?

यदि ऐसा हो तो हमें तत्काल उसका उपाय करना चाहिये। यह उपाय क्या है? यह उपाय है स्वामी विवेकानन्द द्वारा बताये गये जीवन लक्ष्य पर विचार करना, उस पर गंभीरता से मनन कर उसे हृदयंगम करना। अपने ब्रह्म भाव का, अपनी दिव्यता और महानता का चिंतन करना। इस प्रकार दिव्य भावों का चिंतन करने पर अनित्य भौतिक सुखों की असारता का बोध हमें धीरे-धीरे होने लगेगा। यह बोध हमें जीवन की लक्ष्यहीनता से मुक्त कर देगा तथा हमें महान दिव्य जीवन की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देगा। इसके फलस्वरूप हमारे भीतर सुप्त शक्तियाँ धीरे-धीरे जागने लगेंगी और तब हम इसी जीवन में अपने ब्रह्म भाव का अनुभव करने में समर्थ हो सकेंगे।

इस प्रक्रिया का प्रारंभ कहाँ से करें? विचार से। विचारों में महान शक्ति है। स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं ''यदि पदार्थ में शक्ति है तो विचार सर्वशक्तिमान हैं। विचारों की इस महान शक्ति को अपने जीवन पर प्रभाव डालने दो। अपने मन को अपनी सर्वशक्तिमत्ता, अपनी गरिमा, अपनी महिमा, के महान विचारों से परिपूर्ण कर दो।''

यही रहस्य है जीवन की सफलता का। यही उपाय है जीवन लक्ष्य की प्राप्ति का। मानव जीवन का यह एक अनुभूत सत्य है कि अपने विचारों में परिवर्तन के द्वारा मनुष्य अपने चरित्र में, अपने जीवन में, आमूल परिवर्तन कर सकता है। अतः जीवन की सफलता का प्रथम सोपान है दिव्य तथा पवित्र विचारों को मन में बार-बार लाना तथा निम्न और अशुभ विचारों को मन से बाहर निकाल फेंकना। यदि मन में अशुभ विचार उठें तो उनके विपरीत पवित्र एवं शुभ विचारों को अध्यवसाय पूर्वक बार बार मन में लाने का प्रयत्न करना।

पहले पहल निम्न विचारों के विरूद्ध पर्याप्त संघर्ष करना पड़ता है। किन्तु जब मनुष्य दृढ़ संकल्प हो कर अध्यवसाय पूर्वक निम्न विचारों की त्याग उच्च विचारों के चिन्तन का निरंतर प्रयास करता है, मन में उच्च एवं पवित्र विचारों का पोषण करता है तब धीरे-धीरे अशुभ विचारों की शक्ति क्षीण होने लगती है और फिर जीवन में ऐसा भी समय आता है कि मनुष्य के मन में निम्न तथा अशुभ विचार उठते ही नहीं। उसका मन सदैव उच्च और पवित्र विचारों से परिपूर्ण रहता है। इस प्रकार उच्च तथा पवित्र विचारों के सतत चिंतन से मनुष्य के भीतर की सोई हुई महान शक्ति जाग उठती है। उस शक्ति के जागरण के फलस्वरूप मनुष्य की दुर्बलताएँ दूर हो जाती हैं। काम, क्रोध, लोभ-मोह आदि रिपु ऐसे व्यक्ति के मन को विक्षुब्ध नहीं कर पाते। उल्टे ऐसा व्यक्ति स्वयं उन रिपुओं को पराजित कर उन्हें अपने आधीन कर लेने में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार वह अपनी आंतरिक प्रकृति को वशीभूत कर लेता है। और जिस व्यक्ति ने अपनी आंतरिक प्रकृति को वशीभूत कर लिया है उसके लिये बाह्य प्रकृति को भी वश में करना सहज हो जाता है। जिस व्यक्ति ने अपनी आंतरिक और बाह्य प्रकृति को वशीभूत कर लिया है, उसके लिये अपने ब्रह्म भाव को पूर्णतः जागृत कर उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति करना संभव हो उठता है। ऐसे ही व्यक्ति संसार के सच्चे सहायक और हितैषी होते हैं। ये ही लोग समाज के संस्कारक और मार्ग दर्शक होते हैं। इनके मार्ग दर्शन में ही समाज की सर्वांगीण उन्नति तथा कल्याण संभव होता है। जिस समाज में ऐसे आत्म विजयी व्यक्तियों की संख्या जितनी अधिक होगी वह समाज उतना ही उन्नत और समृद्ध होगा। वही समाज विश्व वन्धुत्त्व तथा विश्वशांति स्थापित करने में समर्थ होगा। यही व्यक्ति और समाज की उन्नति का राजमार्ग है।

□

श्री चैतन्य महाप्रभु - ३४

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बँगला में लिखित उनकी 'श्रीश्री चैतन्यदेव' ग्रन्थ महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक रचना मानी जाती है। उसी का हिन्दी अनुवाद यहाँ धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। - सं.)

धन-सम्पदा व ऐश्वर्य मन को भगवान से विमुख करते हैं। संन्यासी-चूड़ामणि जैसे स्वयं सर्वदा इनसे दूर रहते थे और भक्तों को इस विषय में सावधान करते थे। इसी प्रकार कामसक्ति से चित्त को पूर्णतः मुक्त रखने के लिए उनकी प्रमुख शिक्षा थी कि कामिनी-संसर्ग का पूर्णतः वर्जन किया जाय। वे स्वयं तो इस विषय में सावधान रहते ही थे, दूसरों को भी सावधान करते रहते थे। इस विषय में उनका मनोभाव छोटे हरिदास की घटना से ही भलीभाँति समझ में आ जाता है। पाठकों की परितृप्ति के लिए हम यहाँ और भी दो-तीन घटनाओं का उल्लेख करते हैं –

प्रतिवर्ष रथयात्रा के समय गौड़ीय भक्त चैतन्यदेव का दर्शन करने पुरी आया करते थे। उनमें से किसी किसी भक्त की पत्नी तथा उनके नाते की कोई कोई भक्तिमती महिला भी चैतन्यदेव के दर्शन की आकांक्षा से कभी-कभार उनके साथ हो लेती थीं। उन भक्तिमती महिलाओं में अधिकांश वृद्धा तथा उनकी पूर्वपरिचित हुआ करती थीं। ये जननी के समान स्नेहशील महिलाएँ बड़ा कष्ट उठाकर लम्बा रास्ता तय करके केवल उनके दर्शन मात्र की आकांक्षा से ही पुरी आया करती थीं। चैतन्यदेव स्वयं भी इनके प्रति खूब प्रीति का भाव रखते थे और कइयों को विशेष श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। परन्तु इससे क्या! वे कभी भी संन्यास के कठोर नियमों को ताक पर रखकर इन परम पवित्र नारियों को अपने निकट नहीं आने देते थे। उन लोगों को दूर से ही दर्शन-प्रणाम आदि करके सन्तुष्ट हो जाना पड़ता था। ये माताएँ बड़ा परिश्रम करके अपने देश से बहुत-सी अच्छी अच्छी चीजें बनाकर ले आती थीं, परन्तु अपने हाथ से उन्हें भिक्षा देने का सुअवसर उन्हें नहीं मिल पाता था। इस प्रकार लायी हुई चीजें वे महाप्रभु को भिक्षा में देने के लिए स्वयं पकाती थीं, परन्तु अपने हाथ से उन्हें परोस नहीं पाती थीं; अपने पति अथवा पुत्र के हाथों भेजकर ही उन्हें सन्तोष करना पड़ता था। इस प्रकार की उनके जीवन में असंख्य घटनाएँ हुई हैं। आचार्य-गृहिणी, श्रीवास की पत्नी आदि महिलाएँ उन्हें बाल्यकाल से ही पुत्रवत वात्सल्यभाव से देखती थीं, परन्तु उनके लिए भी इस नियम में कोई व्यतिक्रम नहीं होता था।

नवद्वीप में जगन्नाथ मिश्र के घर के निकट ही परमेश्वर नामक एक हलवाई का निवास था। यह हलवाई-दम्पति बालक निमाई के प्रति पुत्र से भी बढ़कर प्रेम प्रदर्शित करता था। उनके स्नेह से आकृष्ट होकर निमाई सर्वदा ही उनके घर आया-जाया करते और वे लोग भी अपनी पसन्द की तरह तरह की अच्छी मिठाइयाँ बनाकर उन्हें खिलाया करते। निमाई के गृह त्यागकर संन्यासी हो जाने पर भी इस दम्पति के अन्तर से उस स्नेह का आकर्षण दूर नहीं हुआ। एक बार वे लोग भी चैतन्यदेव का दर्शन पाने की आकांक्षा से बड़े परिश्रम तथा कष्टपूर्वक पुरी आये। काफी काल बाद परमेश्वर को देखकर महाप्रभु के मन में हर्ष का उदय हुआ और कुशल समाचार आदि पूछकर उन्होंने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया। उनके मधुर व्यवहार से वृद्ध हलवाई का प्राण विगलित हो उठा, हृदय में स्नेह की तरंगें उठने लगी। वृद्ध ने उल्लासपूर्वक बताया, "मुकुन्दा की माँ भी आपका दर्शन करने आयी है।" परमेश्वर को आशा थी कि चैतन्यदेव मुकुन्दा की माता को भी निकट बुलाकर पहले के ही समान अपना स्नेहभाव दिखायेंगे, परन्तु उनकी वह आकांक्षा पूरी नहीं हुई। 'मुकुन्दा की माँ' का नाम सुनते ही महाप्रभु ने संकोच का अनुभव किया और वृद्धा को दूर से ही उनका दर्शन पाकर सन्तुष्ट रह जाना पड़ा।

परवर्ती काल में अधिकांश समय भगवद्भाव में ही विभोर रहने के कारण जब उनके लिए बाह्य जगत से सम्पर्क — लौकिक व्यवहार का पालन करना भी कठिन हो गया, तब भी वे स्त्री जाति के सम्पर्क से सर्वदा दूर ही रहते थे। उसी काल में एक दिन जब वे अपराह्न के समय टहल रहे थे, तो समीपवर्ती उद्यान से आ रही सुमधुर संगीत की ध्वनि ने उनके कानों में प्रवेश किया। विशुद्ध ताल-मान-लय आदि के साथ सुमधुर कण्ठ से गाये जा रहे जयदेव गोस्वामी द्वारा रचित 'गीतगोविन्द' के पद कर्णगोचर होते ही चैतन्यदेव का मन बाह्य जगत को भूलकर भावविभोर हो उठा। वे संगीत की माधुरी से आकृष्ट होकर तेजी से उसी ओर चल पड़े। "कौन गा रहा है? कहाँ गा रहा है?" — आदि प्रश्न उनके मन में उदित ही नहीं हुए। गोविन्द सर्वदा छाया के समान उनके पीछे लगे रहते थे। भावविभोर चैतन्यदेव के दौड़ पड़ने पर गोविन्द भी उनके पीछे पीछे दौड़े। रास्ता उबड़-खाबड़ था, आसपास काँटों का जंगल था, परन्तु चैतन्यदेव इतने तन्मय भाव से दौड़ रहे थे कि इन सब की ओर उनका थोड़ा भी ध्यान नहीं था। थोड़ी दूर अग्रसर होने के बाद ही गोविन्द समझ गये कि यह किसी नारी का कण्ठ है। कोई देवदासी उपवन में बैठकर गा रही थी। चैतन्यदेव तब तक काफी आगे निकल गये थे। गोविन्द पीछे से चिल्लाकर बोले, "यह तो नारी का कण्ठ प्रतीत होता है।" प्रज्ज्वलित अग्नि

पर जल प्रक्षेपण के समान नारी शब्द सुनते ही महाप्रभु की उद्दीपना क्षण भर में शान्त हो गयी। निकट पहुँचकर गोविन्द ने हाथ जोड़कर उनसे निवेदन किया, "लगता है कोई देवदासी गा रही है।" भावविह्वल अवस्था में ऐसा सुमधुर प्रेमसंगीत सुनकर निकटता की अवस्था में गायक को प्रेमालिंगन करने की सम्भावना थी, इसीलिए गोविन्द के सावधान कर देने से चैतन्यदेव उनके प्रति अतिशय प्रसन्न हुए और बोले, "गोविन्द, आज तुमने मेरा जीवन बचा लिया, क्योंकि स्त्री का स्पर्श होने से मेरी मृत्यु हो जाती। तुम्हारा यह ऋण मैं कभी शोध नहीं कर सकूँगा।" गोविन्द ने कहा, "जगन्नाथ ही बचाते हैं, मैं तो एक तुच्छ प्राणी मात्र हूँ।" महाप्रभु बोले, "गोविन्द, तुम मेरे साथ ही रहना और सावधान होकर हर जगह मेरी रक्षा करते रहना।"

शास्त्र में कहा गया है, "जितं सर्वं जिते रसे" — जिह्वा का संयम रहे, तो अन्य समस्त इन्द्रियों का दमन सहज हो जाता है। इस कारण आहार के विषय में चैतन्यदेव बड़ा सोच-विचार कर चलते थे। सम्प्रदाय-गुरु आचार्य शंकर का 'भिक्षान्नमात्रेण च तुष्टिमन्तः' — यह उपदेश उन्होंने आजीवन प्राणपण से पालन किया था। संन्यास के पश्चात उन्होंने भिक्षान्न के अतिरिक्त और कोई भी आहार ग्रहण नहीं किया, यहाँ तक कि ऐसा भी कहीं सुनने में नहीं आता कि कभी उन्होंने अपनी रुचि के अनुसार आहार के लिए किसी प्रकार का उद्योग किया हो। आहार के प्रति उनका बड़ा संयम था। किसी विशेष अन्तरंग के हठपूर्ण अनुरोध पर कदाचित कभी उन्होंने उसकी अभिलाषा के अनुसार कोई उत्कृष्ट वस्तु ग्रहण कर ली हो, तथापि वे सर्वदा 'रूखे-सूखे' सुलभ अनाडम्बर भक्ष्य के द्वारा ही अपनी जीवनयात्रा का निर्वाह करते थे। कभी-कभी ब्राह्मण लोग अच्छी चीजें अपने घर में पकाकर उन्हें भिक्षा में देते थे, परन्तु जगन्नाथजी का महाप्रसाद ही उनके लिए सर्वाधिक प्रिय व प्रधान भोजन था। इस कारण उन्होंने नियम ही बना दिया था कि कोई भी उन्हें भिक्षा देने को चार पैसे से अधिक मूल्य का महाप्रसाद नहीं ला सकेगा। ब्राह्मणेत्तर भक्तगण उन्हें भिक्षा में महाप्रसाद ही देते थे और इसके लिए मूल्य का परिमाप इसलिए निर्धारित कर दिया गया था ताकि कोई उनकी भिक्षा पर अधिक व्यय न करे। उन दिनों निःसन्देह चीजें सस्ती थीं, तथापि चार पैसे के महाप्रसाद से वे स्वयं तथा उनके दो सेवक — इन तीन लोगों की उदरपूर्ति को कठोरता का चूड़ान्त निदर्शन कहा जा सकता है।

श्रीमत् माधवेन्द्र पुरी के एक संन्यासी शिष्य श्री रामचन्द्र पुरी एक बार पुरी आये। चैतन्यदेव ने अपने गुरु श्रीमत् ईश्वरपुरी के गुरुभाई के रूप में उनके प्रति

भी गुरु के समान ही सम्मान प्रदर्शित किया। भक्ति-प्रेम के मूर्त विग्रह माधवेन्द्र स्वामी के शिष्य होकर भी रामचन्द्र शुष्क ज्ञानी प्रकृति के थे। लगता है उन्हें भक्तिमार्ग तथा भगवत्-उपासना में ज्यादा विश्वास न था। कहते हैं कि अपना अन्तिम समय उपस्थित होने पर माधवेन्द्र पुरी बिस्तर पर पड़े जब प्रेमबिह्वल चित्त से अश्रु बहाते हुए व्याकुलता के साथ भगवन्नाम का उच्चारण कर रहे थे, तब रामचन्द्र ने उनसे कहा था, 'आप अपने पूर्ण ब्रह्मानन्द स्वरूप का स्मरण कीजिए। ब्रह्मवित् होकर भी आप रो क्यों रहे हैं?' अपने अज्ञ शिष्य की धृष्टता पर माधवेन्द्र पुरी के अन्तर में बड़ा खेद हुआ। रामचन्द्र का मुख देखने से भी अरुचि हो जाने के कारण पुरीजी ने उन्हें दूर चले जाने का आदेश दिया। भगवान के प्रिय भक्त माधवेन्द्र उनके पादपद्मों में लीन हो गये, परन्तु रामचन्द्र के स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं आया।

अपने को तत्त्वज्ञानी मानकर गर्व से भरे रामचन्द्र दूसरों का छिद्रान्वेषण तथा निन्दा करते हुए घूमते रहते थे। उनके बाह्य चाल-चलन से खूब वैराग्य का भाव झलकता था। उनके निवास स्थान का कोई ठिकाना नहीं था, जहाँ रात हो जाती वहीं विश्राम कर लेते। भिक्षा भी जब जो जुट जाय, वही ग्रहण करते। इस प्रकार के 'बाह्य विरक्त' रामचन्द्र पुरी आकर चैतन्यदेव के दोष ढूँढ़ने लगे, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिल रही थी। एक दिन प्रातःकाल रामचन्द्र चैतन्यदेव की कुटिया में गये हुए थे। महाप्रभु ने भी परम श्रद्धा-भक्ति के साथ उनका स्वागत-सत्कार करके उन्हें बैठाया। उसी समय सहसा रामचन्द्र ने देखा कि चैतन्यदेव की कुटिया में छोटी छोटी चींटियाँ घूम रही हैं। इतने दिनों बाद उन्हें निन्दा का एक सूत्र प्राप्त हुआ और वे गम्भीर स्वर में बोले, "पिछली रात अवश्य ही यहाँ मिठाइयाँ गिरी थीं, नहीं तो फिर चींटियाँ क्यों आतीं।" फिर इस सूत्र का व्याख्या करते हुए रामचन्द्र ने कहा, "आहार का संयम न होने पर इन्द्रियों का भी संयमन नहीं हो सकता। संयमी व्यक्ति कभी मिठाइयाँ नहीं खाता और चैतन्य संन्यासी होकर भी मिठाइयों का भक्षण करते हैं। तो फिर इनकी इन्द्रियाँ भला किस प्रकार संयत रह सकेंगी? ऐसा कहकर रामचन्द्र शीघ्रतापूर्वक उस स्थान से चले गये और चारों तरफ चैतन्यदेव की निन्दा करते फिरे। चैतन्यदेव में आहार का संयम नहीं है, अतः उनकी इन्द्रियाँ भी अतीव प्रबल हैं — यह कह कह कर रामचन्द्र ने उनकी तीव्र समालोचना आरम्भ कर दी।

लोगों के मुख से जब यह बात चैतन्यदेव के कानों तक पहुँची, तो उन्होंने तुरन्त गोविन्द को आदेश दिया, "आज से मेरी भिक्षा के लिए महाप्रसाद कम लाया

जाय। पहले जितना निश्चित किया गया था, अब उसका एक चौथाई ही व्यय किया जा सकेगा। अल्प मूल्य का प्रसाद और थोड़ा सा व्यंजन — इससे अलग कुछ हुआ तो मैं भिक्षा ही नहीं ग्रहण करूँगा।" यह आदेश सुनकर गोविन्द का अन्तर भय से काँप उठा। चैतन्यदेव का स्वभाव उन्हें भलीभाँति विदित था — 'यथा वाणी तथा क्रिया'; अतः वे अकेले में चुपचाप अपने आँसू पोंछने लगे। उस दिन एक भक्त ब्राह्मण ने महाप्रभु को भिक्षा के लिए निमंत्रित किया था। गोविन्द के मुख से चैतन्यदेव की कठोर आज्ञा सुनकर वे सिर पर हाथ रखकर हाय हाय करने लगे। उनके अन्तर में बहुत दिनों से संन्यासी को एक बार भलीभाँति भिक्षा देने की प्रबल अभिलाषा थी। आज यह दारुण संवाद सुनकर उनका हृदय अवसन्न हो गया, परन्तु वे करते भी क्या? कोई चारा न देख, वे अश्रु बहाते हुए चैतन्यदेव की इच्छानुसार ही अल्प परिमाण में महाप्रसाद खरीद लाये और चैतन्यदेव ने सेवक गोविन्द एवं काशीश्वर के साथ उसी के द्वारा अपनी क्षुधानिवृत्ति की। तब से प्रतिदिन उसी प्रकार अल्यल्प महाप्रसाद की व्यवस्था होने लगी। गोविन्द और काशीश्वर को भरपेट खाने का आदेश देकर वे उन्हें अन्यत्र भेज देते थे, परन्तु स्वयं कुछ और नहीं ग्रहण करते थे। इस प्रकार आहार घट जाने से कुछ ही दिनों के भीतर चैतन्यदेव का शरीर क्षीण और दुर्बल हो गया। उनका इस प्रकार आधे पेट खाना देखकर समस्त भक्तगण बड़े दुखी और चिन्तित हुए। सेवक तथा अन्तरंग भक्तगण भी आँखों से अश्रु बहाते हुए आधे पेट ही खाकर कालयापन करने लगे।

लोगों के मुख से चैतन्यदेव के अल्पाहार की बात सुनकर एक दिन रामचन्द्र उनसे मिलने आये और अपनी आँखों से उनका क्षीण और दुर्बल शरीर देखा। अब रामचन्द्र उनके शुभाकांक्षी का भान करते हुए, विज्ञ पुरुष के समान उन्हें अन्य प्रकार का उपदेश देते हुए बोले, "जैसे-तैसे केवल पेट भरकर इन्द्रियों का तर्पण करना संन्यासी का धर्म नहीं है। सुना है कि तुम आधा ही आहार करते हो और क्षीण भी दिखाई पड़ते हो, ऐसा शुष्क वैराग्य संन्यासी का धर्म नहीं है। यथायोग्य उदरपूर्ति करके विषयभोग न करें, तभी संन्यासी को ज्ञानयोग में सिद्धि प्राप्त होती है।" चैतन्यदेव ने पूर्व के समान ही अतिशय विनय व सम्मानपूर्वक उनसे कहा, 'मैं आपका शिष्य-स्थानीय हूँ। मेरा अहोभाग्य जो आप मुझे इस प्रकार सदुपदेश प्रदान कर रहे हैं।"

रामचन्द्र उनकी बातों और आचरण पर सन्तुष्ट होकर विदा हुए, परन्तु चैतन्यदेव ने अपनी भिक्षा के परिमाण में वृद्धि नहीं की। स्वल्प आहार के द्वारा ही उनके दिन बीतने लगे। उनका शरीर क्रमशः अधिकाधिक क्षीण तथा दुर्बल होते देखकर

भक्तगण अतिशय उद्विग्न हुए, परन्तु इसके प्रतिकार की कोई व्यवस्था नहीं कर सके। तदुपरान्त एक दिन परमानन्दजी महाराज आये और चैतन्यदेव से उनके आहार का परिमाण बढ़ाने का अतीव आग्रह करने लगे। रामचन्द्र के स्वभाव का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा, "रामचन्द्र निन्दक स्वभाव का है। उसकी बातों पर व्यर्थ ही ध्यान देकर इस प्रकार देह को सताना और भक्तों के मन में पीड़ा उत्पन्न करना ठीक नहीं हो रहा है।" महाप्रभु ने अत्यन्त विनयपूर्वक रामचन्द्र का समर्थन करते हुए कहा, "आप सभी पुरीजी के प्रति रूष्ट क्यों हैं? वे तो सहज धर्म बताते हैं और इसमें उनका दोष ही क्या है? संन्यासी के लिए जिह्वा की लोलुपता बड़ी बुरी है। यतिधर्म के अनुसार तो उसे प्राण मात्र रखने के लिए जितना आवश्यक उतना ही आहार ग्रहण करना चाहिए।"

चैतन्यदेव परमानन्दजी को अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे और सर्व विषयों में उनकी मान कर चलते थे। अतः उनके स्नेहपूर्ण अनुरोध की उपेक्षा न कर महाप्रभु अपने आहार का परिमाण किंचित् बढ़ाने को राजी हुए। उस दिन से उनके लिए दो पैसे की अर्थात पहले की अपेक्षा आधी भिक्षा का परिमाण निश्चित हो गया।

कुछ दिनों बाद रामचन्द्र पुरी के तीर्थ भ्रमणार्थ अन्यत्र चले जाने पर भक्तों के प्राण शीतल हुए। तब से वे लोग भिक्षा का परिमाण बढ़ाने का प्रयास करने लगे, परन्तु अब वह सम्भव ही नहीं था। अब से सदा के लिए दो पैसे का महाप्रसाद ही निर्धारित हो गया था। तथापि अन्तरंग गृही भक्तों के अनुरोध पर उन लोगों की आकांक्षा को पूर्ण करने के लिए कभी कभी उन्हें इस नियम में ढिलाई भी करनी पड़ती थी। उन लोगों द्वारा बनाकर परम आग्रह के साथ दी गई चीजों की पूर्णतः उपेक्षा न करके, वे उसमें से थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करते थे।

उनके अनाडम्बर लघुपाक आहार में विशेष रुचि का परिचय देने के लिए हम यहाँ पर एक घटना का उल्लेख करते हैं। रथयात्रा के समय गौड़ीय भक्तों की यात्रा का व्ययभार वहन करनेवाले धनी जमींदार श्रीयुत शिवानन्द सेन का बालक-पुत्र चैतन्यदेव का विशेष कृपाप्राप्त था। एक बार बालक चैतन्यदास भी अपने पिता के साथ पुरी आया। गौड़ीय भक्तगण प्रिय संन्यासी को निमंत्रित कर भिक्षा दिया करते थे और इसके लिए यथासम्भव उद्योग तथा उत्कृष्ट चीजें जुटाने में कुछ उठा नहीं रखते थे। इस विषय में धनी जमींदार शिवानन्द सेन का तो कहना ही क्या! इस निमित्त सेन-दम्पति बड़ा कष्ट उठाकर बंगाल से कितनी ही अच्छी अच्छी चीजें ले आते और पुरी में भी बहुत सी चीजें एकत्र करते थे। भक्तों की मनोकामना पूर्ण करने के लिए चैतन्यदेव उस चीजों में से नाम मात्र के लिए ही ग्रहण करते, पर

उन्हें ज्यादा पसन्द नहीं करते थे। एक दिन शिवानन्द के बालक-पुत्र चैतन्यदास ने संन्यासी को भिक्षा के लिए आमंत्रित किया। आयु में अल्प होने के बावजूद वह चैतन्यदेव की रुचि तथा स्वभाव से भलीभाँति अवगत था। चैतन्यदास ने उन्हें भिक्षा देने के लिए अपने माता-पिता के समान किसी प्रकार का उद्योग या आडम्बर नहीं किया। गरमी का मौसम था, अतः महाप्रभु के रुचि के बारे में सोचकर बालक ने जगन्नाथजी के 'पान्ता' महाप्रसाद, कागजी नीबू, अदरख की चटनी, नमक तथा उसके साथ तली हुई बड़ियों की व्यवस्था की। इस सरल, अनाडम्बर, शरीर-मन को तृप्तिदायक तथा सुपाच्य आहार को देखकर चैतन्यदेव के आनन्द की सीमा न रही। अतीव परितोषपूर्वक उन्होंने बालक की भिक्षा ग्रहण की और आहारोपरान्त उसके विचारशक्ति की प्रशंसा करते हुए बोले, "यह बालक ही मेरा अन्तर ठीक-ठीक समझ सका है।"

चैतन्यदेव तथा उनके अन्तरंग पार्षद कितना कठोर त्याग-वैराग्यमय जीवन बिताते थे तथा आहार-विहार के प्रति उनका कैसा संयम था, इसका निदर्शन करानेवाली एक अन्य घटना का उल्लेख यहाँ अप्रासंगिक न होगा। चैतन्यदेव के बालसखा, प्रिय संगी तथा भक्तिप्रेम की प्रतिमूर्ति गदाधर की बात तो पाठकों को अवश्य ही स्मरण होगी। परम प्रेमी कठोर वैरागी ब्रह्मचारी गदाधर पुरी के दक्षिणी ओर के समुद्रतट पर एक अति निर्जन स्थान में स्थित एक कुटिया में भगवद्भजन में लगे रहते थे। गदाधर की जीवनयात्रा पूर्णरूप से आडम्बरहीन थी और वे अत्यन्त सहज-सरल भाव से 'यदृच्छालाभ-सन्तुष्ट' रहकर कठोर त्याग-वैराग्यमय जीवन व्यतीत करते थे। चैतन्यदेव के साहचर्य व त्याग-तपस्या के आनन्द तथा भगवदनुभूति के उल्लास से उनका अन्तर सर्वदा परिपूर्ण रहा करता था। उनके प्रेमपूर्ण व्यवहार और स्निग्ध मधुर वाणी से सबका चित्त आकृष्ट हो जाता था। चैतन्यदेव अपने समुद्रस्नान के बाद कभी-कभी गदाधर की कुटिया में जाकर उनके साथ भेंट और वार्तालाप आदि किया करते थे। इसी प्रकार एक दिन स्नानोपरान्त महाप्रभु ने उनकी कुटिया में जाकर देखा कि वे भोजन बनाने की तैयारी में लगे हैं। चैतन्यदेव ने अपने सुमधुर हास्य के द्वारा गदाधर को मोहित करते हुए कहा, "पण्डित, आज तो मैं तुम्हारे ही यहाँ भिक्षा ग्रहण करूँगा।" इस अप्रत्याशित हठ पर गदाधर का चित्त आनन्द से परिपूर्ण हो उठा, परन्तु दूसरे ही क्षण एक विषम चिन्ता का उदय हो जाने से उनके अन्तर में हर्ष-निषाद का युगपत् संचार हुआ। अहा! प्राणाधिक प्रिय प्रभु आज स्वयं ही माँगकर खाने को आये है। इससे बढ़कर आनन्द ही बात और क्या हो सकती है? परन्तु उन्हें पककर खिलाएँ भी तो क्या? वे अतीव निर्धन

थे और उनकी कुटिया में कुछ भी न था। बारम्बार अनुनय-विनय करके तथा बड़े प्रयास से अनेकों कष्ट उठाकर अति दुर्लभ उत्कृष्ट पदार्थों का संग्रह करके भी लाग जिनकी सेवा करने का सुयोग नहीं पाते, वे ही आज द्वार पर खड़े होकर भिक्षा माँग रहे थे। परन्तु गदाधर भला उन्हें क्या देते? एक भिक्षुक ब्रह्मचारी की कुटिया में उन्हें देने के उपयुक्त भला हो भी क्या सकता था!

भावविभोर गदाधर अपनी आँखों के अश्रु पोंछते हुए निकट के उद्यान से थोड़ा शाक माँग लाये और उसी को पकाया। उनकी कुटिया में एक बैगन था, थोड़ी-सी कोमल नीम की पत्तियाँ लाकर उन्होंने तला हुआ नीम-बैगन बनाया और निकट स्थित इमली के पेड़ की पत्तियों से चटनी तैयार की। इधर चैतन्यदेव की क्षुधा बढ़ती ही जा रही थी। वे गदाधर से शीघ्रतापूर्वक खाना बनाने का काम पूरा कर लेने का आग्रह करने लगे। गदाधर ने उनसे थोड़ी देर और प्रतीक्षा करने का अनुरोध किया, परन्तु वे मानो भूख सहन ही नहीं कर पा रहे थे। आखिरकार वे स्वयं ही पत्तल लेकर बैठक गये और बारम्बार भिक्षा माँगने लगे। गरीब-दुखियों के योग्य अपनी साधारण-सी खाद्य सामग्री उनके पत्तल में परोसते हुए गदाधर का कलेजा मुख को आ गया। अपने इष्टदेवता का स्मरण करते और प्रेमाश्रु बहाते हुए, उन्होंने प्रेमी-संन्यासी को भिक्षा दी। उस पवित्र शाक-अन्न के अपूर्व सुगन्ध से चारों दिशाएँ आमोदित हो उठीं। चैतन्यदेव आहार की खूब प्रशंसा करते हुए परम तृप्ति के साथ खाने लगे और गदाधर का आनन्द बढ़ाने के लिए वे स्वयं ही प्रत्येक वस्तु माँगकर लेने लगे। ये सब साधारण-सी चीजें भी उन्हें अत्यन्त पवित्र, सात्त्विक तथा परमप्रीतिकारी प्रतीत हुईं और वे हर्षित होकर बोले, "ऐसा सुस्वादु अन्न-व्यंजन मुझे कभी खाने को नहीं मिलता।" परमानन्द के साथ भोजन समाप्त करने के पश्चात चैतन्यदेव गदाधर से परिहासपूर्वक बोले, "पण्डित, इतना अच्छा भोजन बनाना तुमने कहाँ सीखा? लगता है पिछले जन्म में तुम बैकुण्ठलोक के रसोइये थे। इतनी अच्छी-अच्छी चीजें पकाकर तुम छिप छिप कर अकेले खाते रहते हो, मुझे नहीं देते! अब से मैं बीच बीच में भिक्षा के लिए तुम्हारी कुटिया में आता रहूँगा।" चैतन्यदेव की स्नेह-प्रीति देखकर गदाधर के नेत्रों से अविरल प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगे और इस अद्भुत भिक्षा की बात सुनकर भक्तगण भी विस्मय-विमुग्ध हो उठे थे। चैतन्यदेव के रसनेन्द्रिय-संयम के बारे में, कहते हैं कि सार्वभौम ने उनकी जिह्वा पर चीनी डालकर परीक्षा की थी। रस का बिन्दु मात्र भी स्पर्श किए बिना ही चीनी के वे दाने शुष्क बालुका के समान उनकी जिह्वा से नीचे गिर बड़े थे। (क्रमशः)

❑

माँ के सान्निध्य में (३७)

सरयूबाला देवी

(मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' के प्रथम भाग से इस अंश का अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं। — सं.)

मई १९१४

आज माँ हमारे बालीगंज के निवास पर आयेंगी। कल से ही सारी व्यवस्था हो रही है। माँ के लिए अलग आसन, श्वेत पत्थर के बर्तन आदि खरीदे गये हैं। माँ आनेवाली हैं — इसी आनन्द में रात भर नींद नहीं आयी। माँ का अपराह्न में आना निश्चित हुआ था। कहीं किसी कारण उनका विचार बदल न जाय, इसीलिए श्रीमान शोकहरण सुबह से ही बागबाजार में माँ के घर गाड़ी ले जाकर प्रतीक्षा कर रहे थे। और हम लोग सबेरे ही घर का सारा कार्य निपटाकर तैयार हो गयीं। माँ का आसन बिछाने के बाद मैंने उसके चारों फूल सजा दिए, घर-द्वार पर सर्वत्र गंगाजल छिड़क दिया, फूलों की माला बनाकर रख लिया और दो बड़े बन्दनवार बनाकर माँ के आसन के दोनों ओर लगा दिए। समय होते ही मैं उनकी प्रतीक्षा करने लगी — माँ न जाने कब आ जायँ! अब वह शुभ घड़ी आ पहुँची थी। गाड़ी की आवाज आते ही हम सभी नीचे उतर गयीं। गाड़ी के रुकते ही मैंने देखा कि माँ सहास्य वदन स्नेहपूर्ण दृष्टि से हम लोगों की ओर देख रही हैं। गाड़ी से उनके उतरते ही हम सभी उनकी चरणधूलि लेने को उतावली हो उठीं।

माँ के साथ गोलाप-माँ, छोटी दीदी, नलिनी दीदी, राधू तथा चार-पाँच साधु-ब्रह्मचारी भी आये हैं। श्री माँ को ऊपर ले जाकर आसन पर बैठाने के बाद मैंने उन्हें प्रणाम किया। माँ बोलीं, "खा लिया है न? मैंने बड़ी जल्दबाजी की, तो भी इससे पहले आना नहीं हो सका। अब जाकर आ सकी हूँ।" इतना कहकर उन्होंने अपने हाथ से स्नेहपूर्वक मेरी ठोढ़ी का स्पर्श किया। मैं वहाँ बैठ नहीं सकी, क्योंकि मुझे कुछ तलना तथा भोजन का आयोजन करना था। बाकी सब कुछ पहले ही तैयार हो चुका था।

ऊपर ग्रामोफोन पर गीत बज रहा था। काम करते करते थोड़ी फुरसत मिलने पर मैंने जाकर देखा कि माँ मशीन का गाना सुनकर बड़ी खुश हो रही हैं और 'कैसी अद्भुत मशीन बनायी है' — कहते हुए एक छोटी बच्ची के समान आनन्द व्यक्त कर रही हैं। बड़ी गर्मी है — माँ बरामदे में चटाई पर लेटी हैं और उनके

आसपास सभी बैठे हैं। एक पत्थर के कटोरे में उन्हें बरफ का पानी दिया गया है, माँ बीच बीच में उसे पी रही हैं। मुझे देखकर माँ बोलीं, "अजी, थोड़ा-सा बरफ का पानी पी लो।" माँ का प्रसादी थोड़ा-सा जल पीकर ठण्डा होने के बाद मैं फिर से दौड़कर रसोईघर में चली आयी। इतनी जल्दी जल्दी निपटाने पर भी काम आज समाप्त ही नहीं हो रहा था।

सन्ध्या के बाद बगल के कमरे में ठाकुर का भोग सजाया गया। माँ के आकर गोलाप-माँ को भोग निवेदन कर देने को कहने पर, वे बोलीं, "तुम्हीं दो, तुम्हारे उपस्थित रहते मैं क्यों दूँ?" तब माँ स्वयं ही भोग-निवेदन करने बैठीं और प्रशंसा करते हुए कहने लगीं, "अहा, तुमने कितना सुन्दर सजाया है!" इसी प्रकार बालिका के समान सभी चीजों पर आनन्द व्यक्त करते हुए वे हम लोगों को असीम आनन्द देने लगीं। भोग हो जाने के बाद माँ तथा अन्य सभी प्रसाद ग्रहण करने बैठे। सबसे पहले माँ का खाना पूरा हुआ। बरामदे में बेत की एक आरामकुर्सी पर बैठकर वे मुझे पुकारकर बोलीं, "अजी, मुझे पान देती जाओ।" मैं तब भी गोलाप-माँ को परोस रही थी। जल्दी से जाकर मैं उन्हें पान दे आयी। माँ को माँगकर पान खाना पड़ा — इस पर मैं थोड़ी लज्जित भी हुई! मैंने सुमति से कहा, "पान लेकर खड़ी नहीं रह सकी, देख रही हो कि मैं इधर हूँ?" थोड़ी देर बाद माँ एक बार नीचे उतरकर नल के पास गयीं। मैं भी लालटेन लेकर साथ चली। उद्यान का यह भाग काफी निर्जन है, रास्ते के दोनों तरफ क्रोटन के पौधों की पाँत है। माँ ने स्नेहपूर्वक कहा, "अहा, काम के कारण तुम थोड़ा-सा बैठ भी नहीं सकी। वहाँ आना, अपनी माँ को भी लेती आना।" मेरी माँ वहाँ घूमने आयी हुई थीं। सौभाग्यवश उन्हें घर बैठे ही श्री माँ का दर्शन प्राप्त हो गया।

बिदाई का समय आ पहुँचा। मोटर गाड़ी में जाने की माँ की सहमति नहीं थी। इसका कारण यह था कि एक बार माहेश का रथ देखने जाते समय उनकी मोटर के नीचे एक कुत्ता दब गया था। परन्तु भक्तों के यह कहने पर कि बागबाजार जितनी दूर मोटर में न जाने से रात हो जायेगीऔर कष्ट भी होगा, आखिरकार उन्होंने भक्तों की बात मान ली। बारम्बार ठाकुर को प्रणाम करने के बाद वे निकलने को तैयार हुईं और हम लोगों को आशीर्वाद देकर गाड़ी पर सवार हुईं।

❑ ❑ ❑

एक दिन मैं रात के समय गयी थी। माँ लेटी हुई थीं। काली बहू (माँ उन्हें इसी नाम से पुकारती थीं) पास बैठी थी। मैं प्रणाम करूँगी इसलिए माँ उठकर

बैठीं। प्रणाम करते ही कुशल आदि पूछने के बाद पुनः लेटते हुए उन्होंने पाँवों पर हाथ फेर देने को कहा। फिर बातचीत के दौरान वे कहने लगीं, "सुनो बेटी, विधाता ने जब सर्वप्रथम मनुष्य की सृष्टि की, तो एक तरह से उन्हें सत्त्वगुणी ही बनाया था। इसके फलस्वरूप उन लोगों ने ज्ञान के साथ ही जन्म लिया था और उन्हें संसार की अनित्यता समझते देर न लगी। अतः वे सभी तत्काल भगवान का नाम लेकर तपस्या करने निकल पड़े और उनके मुक्तिपद में लीन हो गये। विधाता ने देखा कि काम हुआ नहीं। इन लोगों के द्वारा संसार की लीला आदि कुछ नहीं चल सकी। तब उन्होंने सत्त्व के साथ थोड़ी अधिक मात्रा में रजः और तमः मिलाकर मनुष्य की रचना की। इसके बाद उनकी लीला का खेल भलीभाँति चलने लगा।" इतना कहने के बाद उन्होंने सृष्टि-विषयक के एक सुन्दर दोहा सुनाया। तदुपरान्त वे बोलीं, "उन दिनों बेटी, नाटक-कथा आदि हुआ करती थी। हम लोगों ने कितना सब सुना है, आजकल वैसा सुनने में नहीं आता।" इसी बीच काली-बहू उठकर दूसरे कमरे में चली गयी थी और वहाँ नलिनी दीदी तथा माकू के पास कोई पुस्तक चिल्ला-चिल्लाकर पढ़ रही थी। सुनकर माँ ने कहा, "देखती हो बेटी, कितना चिल्लाकर पढ़ रही है? नीचे कितने सब लोग हैं, इसका कोई होश ही नहीं!"

राधारानी ने माँ के पास आकर कहा, "लक्ष्मी आदि नवद्वीप जायेंगी, परन्तु तुमने मुझे उन लोगों के साथ नहीं जाने दिया!" इतना कहने के बाद वे रूठकर चली गयीं। माँ बोलीं, "उसे भला कैसे जाने दूँगी, बेटी! वह (लक्ष्मी) भक्त है; भक्तों के साथ मिलकर कितना नाचेगी-गायेगी, हो सकता है कि जाति आदि का विचार किये बिना उन लोगों के साथ खा भी ले,[1] परन्तु यह तो वह सब अच्छा नहीं समझेगी, गाँव लौटकर लक्ष्मी की निन्दा करेगी। तुमने लक्ष्मी को देखा है?"

मैंने कहा, "नहीं, माँ।"

माँ — दक्षिणेश्वर में ही है, उससे मिलना। दक्षिणेश्वर गयी हो न?

मैं — हाँ, माँ, बहुत बार गयी हूँ। परन्तु वे वहीं हैं, यह मैं नहीं जानती थी।

माँ — दक्षिणेश्वर में मैं जिस नौबतखाने[2] में रहती थी, उसे देखा है?

मैं — बाहर से देखा है।

---

१. श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि भक्तों की एक अलग ही जाति होती है, भक्तों का स्वभाव गँजेड़ियों के समान होता है, आदि।

२. उत्तर की ओर के नौबतखाने के नीचे की कोठरी में माँ निवास करती थीं।

माँ — भीतर जाकर देखना। उसी कोठरी के भीतर सारी गृहस्थी थी। मैं जब पहली बार कलकत्ते आयी, उसके पहले कभी पानी का नल आदि नहीं देखा था। एक दिन मैं नलघर[३] में गयी थी, देखा कि नल से साँप के समान 'सों सों' की आवाज निकल रही है। मैं तो बेटी, भय से दौड़ते हुए महिलाओं के पास जाकर बोली, 'अजी, नल के भीतर एक साँप आया है, देखना हो तो आओ। सों सों कर रहा है।' वे लोग हँसते हुए बोलीं, 'अजी, वह साँप नहीं है, डरना मत। जल निकलने के पहले ऐसी ही आवाज आती है।' मैं तो हँसते हँसते लोटपोट हो गयी।

यह कहकर माँ खूब हँसने लगीं। वह क्या ही सरल मधुर हास्य था! मैं भी अपनी हँसी न रोक सकी, सोचा – हमारी माँ ऐसी ही सरल जो हैं!

माँ — बेलुड़ में ठाकुर का उत्सव देखा है?

मैं — नहीं माँ, कभी बेलुड़ मठ नहीं गयी। सुना है कि वहाँ महिलाओं का जाकर भीड़ लगाना साधु-भक्तगण पसन्द नहीं करते। इसी भय से और भी नहीं गयी।

माँ — एक बार जाना न, ठाकुर का उत्सव देखने जाना।

❑ ❑ ❑

एक अन्य दिन श्री माँ ने रास्ते के किनारेवाले बरामदे में आकर मुझे आसन तथा जप की थैली लाने को कहा। वह ला देने पर वे बैठकर जप करने लगीं। प्रायः संध्या हो चली थी, उसी समय सामने के मैदान में जहाँ कुली-मजदूर आदि बहुत से लोग अपने बाल-बच्चों के साथ निवास करते थे, वहाँ एक पुरुष ने सम्भवतः अपनी स्त्री को बुरी तरह से पीटना शुरु कर दिया — थप्पड़, घूँसे और बाद में उसने एक ऐसा लात मारा कि वह स्त्री अपनी गोद के बच्चे के साथ लुढ़कते हुए आंगन में जा गिरी। अहा, उसके बाद भी जाकर उसने कई लात जमाये। माँ का जप करना बन्द हो गया। यह क्या उनसे सहन हो सकता था? वे इतनी अधिक लज्जाशील थीं कि उनके गले का स्वर तक कोई नीचे से सुन नहीं पाता था, तो भी रेलिंग पकड़कर वे खड़ी हो गयीं और तीव्र भर्त्सना के स्वर में बोलीं, "अरे दुष्ट, बहू को बिल्कुल मार ही डालेगा क्या? बेचारी पहले ही तो अधमरी हो गयी है!" वह व्यक्ति इतना क्रोधोन्मत्त हो रहा था, परन्तु एक बार उनकी ओर दृष्टि पड़ते ही सिर पर धूल पड़े हुए सर्प के समान सिर नीचा करके उसने बहू को तत्काल

३. माँ उस बार कलकत्ते के काँसारीपाड़ा में स्थित गिरीश भट्टाचार्य के मकान में अपने भाई प्रसन्न मुखोपाध्याय के घर में ठहरी थीं।

छोड़ दिया। माँ की सहानुभूति पाकर उस महिला की रुलाई थम ही नहीं रही थी। सुना — उसका अपराध बस इतना ही है कि उसने यथासमय भात बनाकर नहीं रखा था। थोड़ी देर बाद उस आदमी का क्रोध शान्त हुआ और उनके बीच मान-मनौवल शुरू हो जाने पर हम लोग भी कमरे के भीतर चली आयीं।

थोड़ी देर बाद रास्ते पर एक भिक्षुक की आवाज सुनाई दी — "राधागोविन्द, ओ माँ नन्दरानी, अन्धे पर दया करो, माँ।" आदि। इसे सुनकर माँ ने कहा, "यह भिखारी प्रायः ही रात में इधर से होकर जाता है। पहले वह, 'अन्धे पर दया करो माँ' आदि कहकर ही गुहार लगाया करता था। गोलाप-माँ ने एक दिन उससे ठीक ही कहा था, 'अरे, इसके साथ ही एक बार राधाकृष्ण का नाम भी लिया कर। गृहस्थ के कान में भी भगवान का नाम जायेगा और तेरा भी नाम लेना हो जायेगा। सो तो नहीं, केवल अन्धा अन्धा ही कहता रहता है।' तभी से वह यहाँ आते ही अब 'राधागोविन्द' कहकर खड़ा हो जाता है। गोलाप-माँ ने उसे एक कपड़ा दिया है, पैसे भी मिलते हैं।"

एक दिन संध्या के समय गयी थी, सुना माँ कह रही थीं, "नये भक्तों के द्वारा ठाकुर-सेवा का कार्य कराना चाहिए, क्योंकि उनका नवानुराग है, सेवा अच्छी होती है। पुराने लोग सेवा करते करते थक गये हैं। सेवा क्या सहज बात है, बेटी! कहीं सेवापराध न हो, इस ओर ध्यान रहना चाहिए। परन्तु बात क्या है जानती हो — मनुष्य को अज्ञानी समझकर वे क्षमा करते हैं।" एक सेविका के समीप आने पर वे उसकी ओर उन्मुख होकर बोलीं, "चन्दन में मिट्टी आदि न रहे, फूल-बिल्वपत्र कीड़े का काटा न हो। पूजा अथवा पूजा का कार्य करते समय अपने किसी अंग, केश या कपड़े से हाथ न लगे। पूरे यत्न के साथ यह सब करना चाहिए। और भोगराग इत्यादि ठीक समय पर दिया जाय।"

❑ ❑ ❑

रात के लगभग साढ़े आठ बजे थे। आज जाकर देखा, तो माँ उस समय मन्दिर के उत्तरी रास्ते की ओर के बरामदे में अन्धकार में बैठी जप कर रही हैं। बगल के कमरे में हम लोगों के बैठने के थोड़ी देर बाद माँ उठ कर आयीं और हँसते हुए बोलीं, "आयी हो बेटी, आओ।"

मैं — हाँ माँ, आज हम दोनों बहनें आयी हैं। आरती हो गयी है क्या?

माँ — नहीं, अभी तक नहीं हुई। तुम लोग आरती देखो, मैं आती हूँ।

आरती आरम्भ हुई। बहुत-सी महिलाएँ मन्दिर में जप करने बैठीं। आरती समाप्त होने के बाद हम प्रणाम करने के बाद माँ से मिलने बगल के कमरे में गयीं।

यहाँ आने पर एक क्षण के लिए भी माँ को दृष्टि से दूर रखने की इच्छा नहीं होती।

थोड़ी देर बाद माँ निकट आकर बैठीं। एक वृद्धा एक अन्य जन से एक भजन सीख रही थीं। उसे सुनकर माँ बोलीं, "हाँ, वह जो सिखायेगी — दो पंक्तियाँ बोलकर उसके बाद की दो पंक्तियाँ छोड़कर बोलेगी! अहा, भजन तो वे (ठाकुर) ही गाया करते थे। भजन के ऊपर मानो उतराते थे! उसी गाने से कान भरे हुए हैं। आजकल जो भजन होते हैं, उन्हें सुनना पड़ता है, इसीलिए सुनती हूँ। और नरेन (स्वामी विवेकानन्द) का क्या ही पंचम सुर था! अमेरिका जाने के पहले घुसुड़ी के मकान में आकर मुझे भजन सुना गया। उसने कहा था, 'माँ, यदि मनुष्य होकर लौट सका, तभी वापस आऊँगा, नहीं तो बस हो गया।' मैंने कहा, 'यह क्या कहते हो!' इस पर बोला, 'नहीं, नहीं, आपके आशीर्वाद से शीघ्र ही लौटूँगा।' और गिरीश बाबू भी अभी कुछ दिनों पूर्व ही भजन सुना गये। बड़ा सुन्दर गाते थे।"

उसी समय राधू के माँ को अपने पास आकर सोने के लिए कहने पर उन्होंने कहा, "तुम जाकर सो जाओ न। अहा, ये लोग कितनी दूर से आयी हैं, मैं थोड़ी देर इनके साथ बैठूँ।" तो भी राधू को न छोड़ते देखकर मैंने कहा, "अच्छा माँ, तो उसी कमरे (मन्दिर) में चलिए न, लेट जाइयेगा।" माँ बोलीं, "तो फिर तुम लोग भी चलो।" हम भी गयीं। माँ लेटी लेटी बातें करने लगीं और मैं उन्हें हवा करने लगी। थोड़ी देर बाद माँ ने कहा, "अब काफी ठण्डा हो गया है, और जरूरत नहीं।" तब मैं उनके पाँवों पर हाथ फेरने लगी। एक वृद्धा एक अन्य जन को योगशास्त्र का षट्चक्रभेद तथा विभिन्न पद्मों के बीज-मंत्रादि के सम्बन्ध में कुछ बता रही थीं। गोलाप-माँ ने कहा, "इन बीज-मंत्रों आदि को इस प्रकार नहीं बताना चाहिए।" तो भी वे बोलती रहीं। माँ ने यह सुनकर हँसते हुए मुझसे कहा, "ठाकुर ने अपने हाथ से कुल-कुण्डलिनी, षट्चक्र आदि के रेखाचित्र बनाकर मुझे दिखा दिये थे।"

मैंने पूछा, "वह कहाँ है, माँ?"

माँ — अहा बेटी, इतना सब होगा, यह क्या मैं तब जानती थी? वह न जाने कहाँ खो गया, फिर मिला नहीं।

रात के लगभग ग्यारह बजे थे। हम लोगों के प्रणाम करके विदा लेते समय माँ 'दुर्गा दुर्गा' कहकर आशीर्वाद देती हुई उठ बैठीं। निकलने के पूर्व वे हमें एकान्त में बुलाकर बोलीं, "देखो बेटी, पति-पत्नी में एकमत हो, तभी धर्मलाभ होता है।" (क्रमशः)

□

स्वामी विवेकानन्द और युवा-जागरण

स्वामी विदेहात्मानन्द

आज का आम भारतीय युवक दिशाहीन-सा लगता है। वह धन तथा नाम कमाने की अन्धाधुन्ध दौड़ में शामिल है। सामाजिक तथा राष्ट्रीय दायित्व का तो उसमें नितान्त अभाव है। उसने फिल्मी सितारों, धनकुबेरों तथा क्रिकेट के खिलाड़ियों के चकाचौंध-भरे जीवन को ही अपना आदर्श बना लिया है। ऐसे परिदृश्य में हम अपने मातृभूमि के उज्ज्वल भविष्य की कल्पना भला कैसे करें? वस्तुतः भारत के युवावर्ग को एक ऐसे ज्वलन्त आदर्श की आवश्यकता है, जिसमें उच्च मूल्यों के रूपायन के साथ ही आधुनिक भावों का भी समावेश हो, जो प्राचीन भारतीय संस्कृति में पगा होने के साथ ही आधुनिक समस्याओं के प्रति भी संवेदनशील हो। एकमात्र स्वामी विवेकानन्द का व्यक्तित्व ही भारतीय युवकों की इस आवश्यकता की पूर्ति करने में सक्षम है। और इसी कारण भारत सरकार ने उनके जन्मदिन १२ जनवरी को राष्ट्रीय युवा दिवस घोषित किया है।

यदि हम पिछले सौ वर्षों के भारतीय इतिहास का अनुशीलन करें, तो देखते हैं हमारे राष्ट्रीय जीवन में उल्लेखनीय योगदान करनेवाले अधिकांश ख्यातिलब्ध लोगों ने अपनी तरुणाई में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से स्वामीजी के जीवन से काफी प्रेरणा ली थी। उदाहरणार्थ महात्मा गाँधी, पं. नेहरू, नेताजी सुभाष, डॉ. राधाकृष्णन, श्री राजगोपालाचारी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि कुछ नाम लिए जा सकते हैं, जिन्होंने मुक्तकण्ठ से अपने व्यक्तित्व के निर्माण में उनका ऋण स्वीकार किया है।

प्रासंगिकता

कोई कोई कहते हैं कि स्वामी विवेकानन्द तो पिछली शताब्दी के व्यक्ति थे और उस युग में भले ही उनका जीवन तथा सन्देश उपयोगी रहा हो; परन्तु आज परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं, देश स्वाधीन हो गया है, विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी ऊँची उड़ानें भर रहे हैं, अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य में भी काफी बदलाव है और अनेक नये-नये विचारकों का उदय हुआ है; अतः स्वामी विवेकानन्द को इतिहास के पन्नों को ही सुशोभित करते छोड़कर हमें नये सिरे से अपने कर्तव्य का निर्धारण करना होगा और नये उपाय तथा आदर्श अपनाने होंगे। परन्तु बात ऐसी नहीं है।

स्वामीजी एक पुराण-पुरुष थे। 'पुराण' का अर्थ होता है — 'पुरा अपि नव इति' — अर्थात जो पुराना होकर भी नित्य नवीन प्रतिभात हो। स्वामीजी के इसी

वैशिष्ट्य पर मुग्ध होकर पं. नेहरू ने कहा था, "यदि आप स्वामीजी के व्याख्यान तथा रचनाएँ पढ़े, तो एक बड़ी अद्‌भुत चीज की ओर आपका ध्यान जायेगा और वह यह कि वे कभी पुरानी नहीं लगतीं। ये बातें ५६ वर्ष पूर्व कही गयी थीं, परन्तु वे आज भी वैसी ही तरो-ताजा बनी हुई हैं। ऐसा क्यों है? इसलिए कि उन्होंने जो कुछ भी लिखा या कहा, वह सब हमारी अथवा जागतिक समस्याओं के मूलभूत तत्त्वों तथा आयामों से सम्बन्धित था। और यही कारण है कि वे कभी पुराने नहीं लगते। आज भी यदि आप पढ़े, तो वे नये ही लगेंगे।"

स्वामीजी ने स्वयं भी कहा था, "आगामी पन्द्रह सौ वर्षों के लिए मैंने यथेष्ट कार्य कर दिया है। आनेवाली कई शताब्दियों तक किसी को भी कुछ नया सोचने की आवश्यकता नहीं।" फिर उन्होंने यह घोषणा भी की थी, "सम्भव है मैं अपना यह शरीर एक जीर्ण वस्त्र की भाँति त्याग दूँ, परन्तु मैं कार्य करना नहीं छोड़ूँगा। मैं जन-जन को तब तक प्रेरित करता रहूँगा, जब तक कि सम्पूर्ण विश्व ईश्वर के साथ अपने एकत्व की अनुभूति नहीं कर लेता।" अतः स्वामी विवेकानन्द आज भी जीवित जाग्रत तथा सक्रिय हैं और अपने प्रज्वलन्त विचारों के माध्यम से करोड़ों लोगों के प्रेरणा-बिन्दु बने हुए हैं।

मनुष्य का निर्माण

स्वामीजी जब अमेरिका से लौटे, तो मद्रास के कुछ महत्त्वपूर्ण राजनेता उनसे मिले और अनुरोध किया, "आज पूरा देश आपके नाम पर उमड़ पड़ा है, क्यों न आप इस जागरण को राष्ट्रीय स्वाधीनता की ओर मोड़ दें?" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "ठीक है, मैं ऐसा कर तो अवश्य सकता हूँ, परन्तु स्वाधीनता के बाद इस देश को चलाएगा कौन? हमारे देश में भला मनुष्य ही कहाँ हैं?"

सौ वर्ष पूर्व उत्थापित किया गया वही प्रश्न आज भी हमारे लिए महत्त्वपूर्ण बना हुआ है। इस देश में प्राकृतिक खनिज सम्पदा के विशाल भण्डार हैं, अत्यन्त उर्वर कृषियोग्य भूमि के हम उत्तराधिकारी हैं और प्रतिभाशाली डॉक्टरों, इंजीनियरों, वैज्ञानिकों, विचारकों, प्राध्यापकों की हमारी फौज दुनिया के किसी भी देश से लोहा ले सकती है; परन्तु स्वाधीनता के आधी शताब्दी के बाद भी हम संसार के सबसे पिछड़े देशों में गिने जाते हैं। जर्मनी तथा जापान दूसरे महायुद्ध का विध्वंश झेलने के बावजूद आज फिर से विश्व के अग्रगण्य राष्ट्र बन गये हैं और हम अपनी प्रगति में मार्ग पर कछुए की चाल से चले जा रहे हैं। भारत के इस पिछड़ेपन का क्या कारण है? एकमात्र कारण है — ऐसे चरित्रवान मनुष्यों का अभाव, जो देश, समाज,

धर्म अथवा ज्ञान के लिए अपने छुद्र स्वार्थ की बलि चढ़ा सकें। इस तरह के मुट्ठी भर नागरिक भी भारतीय परिदृश्य में आमूल-चूल रूपान्तरण ला सकते हैं। ऐसे मनुष्यों का निर्माण एक उपयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली के द्वारा ही सम्भव है।

वास्तविक शिक्षा

हमारे सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन में जितनी बीमारियाँ फैली हुई हैं, स्वामीजी के मतानुसार 'शिक्षा' उन सबकी रामबाण औषधि है। उनका तात्पर्य ब्रिटिश साम्राज्यवाद से विरासत में प्राप्त हमारी वर्तमान शिक्षा से नहीं था। स्वाधीनता के पश्चात् डॉ. राधाकृष्णन कमीशन ने देशव्यापी सर्वेक्षण करने के बाद हमारी राष्ट्रीय शिक्षा पर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की थी, परन्तु सदा के लिए सरकारी अभिलेखागारों की धूल फाँकना ही उसकी नियति में बदा है, क्योंकि हमारे राजनेताओं के पास राष्ट्रीय महत्त्व के कार्यों के लिए समय और समझ — दोनों का ही अभाव है।

वर्तमान अर्थपरक शिक्षा-प्रणाली में उच्चतर मूल्यों का कोई स्थान नहीं; यह नकारात्मक है, मौलिकता का नाश करनेवाली है और लोगों को अपने परम्परागत कार्य में दक्ष करने के स्थान, पर उन्हें बाबू बनने को प्रेरित करती है तथा युवकों को गाँव से उजाड़कर नौकरी की खोज में नगरों की खाक छनवाती है। वर्तमान शिक्षा में श्रम की महत्ता नहीं सिखायी जाती और आज के अधिकांश शिक्षित युवकों की नौकरी पर निर्भरता ही आज की भारतीय शिक्षा का सबसे बड़ा अभिशाप है।

स्वामीजी के भारतीय युवकों की 'शिक्षा' के विषय में अनेक मूल्यवान विचार दिये हैं, जो उनकी ग्रन्थावली में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। कुछ सूत्र प्रस्तुत है —

(१) समग्र जीवन का एकमात्र उद्देश्य है शिक्षा।

(२) शिक्षा का एकमेव उद्देश्य मनुष्य का निर्माण होना चाहिए।

(३) शिक्षा का अर्थ है उस पूर्णता की अभिव्यक्ति, जो सभी मनुष्यों में पहले से ही विद्यमान है।

(३) शिक्षा का सार मन की एकाग्रता प्राप्त करना है, तथ्यों का संकलन नहीं। इसी से सब सिद्ध हो जाता है। यही समस्त ज्ञान का उत्स है। एकाग्रता सीखो और जिस ओर इच्छा हो उसका प्रयोग करो।

(४) हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है, जिससे चरित्र-निर्माण हो, मानसिक शक्ति बढ़े, बुद्धि का विकास हो और देश के युवक अपने पैरों पर खड़े होना सीखें।

(५) ज्ञानप्राप्ति का रहस्य है — सब वस्तुओं का सारभाग ग्रहण करना।

(६) कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता, सब अन्दर ही है। तुम्हारी आत्मा को छोड़ तुम्हारा और कोई शिक्षक नहीं। कोई आदमी किसी दूसरे को नहीं सिखा सकता। मनुष्य जो कुछ 'सीखता' है, वह वस्तुतः 'आविष्कार' करना है। शिशु स्वयं ही शिक्षालाभ करता है। तुम्हारा कर्तव्य है — सुयोग देना और बाधाएँ दूर करना। मन ही हमारा सबसे प्रभावशाली शिक्षक है।

(७) दूसरे का अनुकरण करना सभ्यता का चिह्न नहीं है, बल्कि वह तो मनुष्य के अधःपतन का लक्षण है। हाँ, दूसरों के पास जो कुछ अच्छाई हो, उसे अवश्य ग्रहण करो। मेरा मूलमंत्र है कि जहाँ जो कुछ अच्छा मिले, सीखना चाहिए। सत्य निम्नतम व्यक्ति से भी सीखा जा सकता है, चाहे वह किसी भी जाति अथवा सम्प्रदाय का हो।

(८) सच्ची सहानुभूति के बिना हम कभी सम्यक शिक्षा नहीं दे सकते। किसी की आस्था को विचलित मत करो। कभी मत कहो कि मनुष्य दुर्बल है। किसी से ऐसा मत कहो कि 'तुम बुरे हो', वरन कहो, 'तुम अच्छे हो, और भी अच्छे बनो'। गाली देने या निन्दा करने से कोई उन्नति नहीं होती।

(९) जैसे तुम एक पौधे को नहीं उगा सकते, वैसे ही तुम एक बालक को शिक्षा नहीं दे सकते। बालक अपने आप ही सीख लेता है। तुम तो उसके मार्ग में आगे बढ़ने में सहायता मात्र दे सकते हो। शिशु की आत्मा में वह ज्ञान तथा शक्ति आरम्भ से ही थे, किन्तु वे अव्यक्त थे और अब व्यक्त हो उठे।

(१०) शिक्षादान निःशुल्क तथा उदारतापूर्वक होना चाहिए। जब तक इस देश में अध्यापन तथा शिक्षा का भार त्यागी तथा निःस्पृह लोग ग्रहण नहीं करेंगे, तब तक भारत को दूसरे देशों के तलवे चाटने पड़ेंगे। बाल्यावस्था से ही जाज्वल्यमान, उज्ज्वल चरित्रयुक्त किसी तपस्वी महापुरुष के सान्निध्य में रहना चाहिए।

(११) दुःख-दारिद्र्य से बढकर दूसरा शिक्षक नहीं। बालकों को यह शिक्षा देना गलत है कि यह जगत केवल मधुमय है। सुख और दुख दोनों ही महान शिक्षक हैं। यदि हम संसार के महापुरुषों के चरित्र का अध्ययन करें, तो अधिकांश स्थलों पर हम देखेंगे कि सुख की अपेक्षा दुख ने और सम्पत्ति की अपेक्षा दारिद्र्य ने ही उन्हें अधिक शिक्षा दी है और प्रशंसा की अपेक्षा आघातों ने ही उनकी अन्तस्थ अग्नि को अधिक स्फुरित किया है।

(१२) मैं धर्म को शिक्षा का अन्तरंग अंग समझता हूँ। सच्ची शिक्षा सर्वदा प्रकृति के सम्पर्क में रहने से ही प्राप्त होती है। अधिकाधिक युवकों को पाश्चात्य विज्ञान और भारतीय अध्यात्म शास्त्र दोनों की शिक्षा दी जाय। उच्च शिक्षा का

उद्देश्य है जीवन की समस्याओं को सुलझाना, किन्तु हमारे देश में हजारों वर्ष पूर्व ही ये गुत्थियाँ सुलझा ली गयी थीं।

(१३) बिना अभ्यास और वितरण के प्रायः सभी विद्याएँ नष्ट हो जाती हैं। जो मनुष्य कहता है कि मुझे कुछ नहीं सीखना है, समझ लो कि वह मृत्यु की राह पर है।

आज जबकि छात्रों में डॉक्टर, इंजीनियर तथा प्रशासनिक अधिकारी आदि बनने की होड़ लगी हुई है, भारत की सर्वांगीण और विशेषकर औद्योगिक उन्नति के लिए भी हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि अधिकांश उद्योग तथा वाणिज्य कृषि पर ही आधारित हैं और भारतीय कृषि में जितनी ही उन्नति होगी, उसी अनुपात में हमारा देश सबल तथा सम्पन्न होगा। इसके लिए आवश्यक है कि भारत के प्रतिभाशाली युवकों में कृषिविज्ञान तथा ग्राम्यजीवन की ओर विशेष रुझान हो।

१८९१ ई. में अपने भारत-भ्रमण के दौरान अलवर (राजस्थान) में कुछ नवयुवकों से वार्तालाप करते हुए स्वामीजी ने कुछ अत्यन्त मूल्यवान विचार व्यक्त किये थे। उन्होंने कहा था, "सोच-विचार करने के बाद मैं तो खेती-बारी को ही सबसे अच्छा समझता हूँ। इससे लगेगा कि फिर पढ़ने-लिखने की क्या आवश्यकता थी? देश भर के लोग कृषक तो हैं ही और इसी से तो हमारी ऐसी दुर्दशा हो रही है। परन्तु बात ऐसी नहीं है।

"महाभारत पढ़कर देखो। जनक ऋषि एक हाथ से हल जोत रहे हैं और दूसरे से वेद का अध्ययन कर रहे हैं। हमारे सभी पुराने ऋषियों ने ऐसा ही किया था। और फिर आज के युग में भी देखो, तो अमेरिका खेती-बारी के द्वारा ही इतना शक्तिशाली हुआ है। निपट देहाती बुद्धि से नहीं, विद्या-बुद्धि की सहायता से खेती करनी होगी। ... पढ़े-लिखे लोग यदि गाँवों में रहें, तो छोटे-मोटे खराब ग्राम भी सुधर जाते हैं, वैज्ञानिक पद्धति से उत्पादन भी बढ़ता है, किसानों की आँखें खुल जाती हैं, उन्हें भी ज्ञान प्राप्ति की इच्छा होती है और सर्वोपरि हमारे देश को जिस चीज की जरूरत है — छोटी तथा ऊँची जातियों के बीच भाई चारे का सम्बन्ध भी बढ़ता है।"

आज के युवावर्ग को चाहिए कि वे जीवन तथा समाज से जुड़ी प्रत्येक समस्या के समाधान हेतु स्वामीजी के साहित्य का अनुशीलन करें और उनके सपनों का स्वर्णिम भारत गढ़ने के प्रयास में जुट जायँ। स्वामीजी के आह्वान को स्वीकार करने का यही एकमेव मार्ग है।

□

ऋग्वेद का नासदीय सूक्त

डॉ. शोभा निगम

वेदों के रचयिता एवं रचनाकाल के विषय में विद्वानों में काफी मतभेद है। हिन्दू परम्परा वेदों को अपौरुषेय तथा अनादि मानती है — अर्थात इनकी रचना किसी पुरुष ने किसी काल-विशेष में नहीं की है, अपितु ये नित्य और साक्षात ईश्वर से ही निःस्रित हुए हैं। तथापि इसमें निहित ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर विद्वानों ने इसके रचनाकाल का अनुमान लगाया है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने अंकगणित एवं ज्योतिष के सिद्धान्तों के आधार पर ऋग्वेद को ई. पू. दस हजार से आठ हजार की रचना सिद्ध किया है, वैसे अनेक विद्वान इस मत से सहमत नहीं है। डॉ. राधाकृष्णन इसका समय १५०० ई. पू. बताते हैं। अस्तु।

यह जानने की इच्छा होती है और यह जानकारी बेहद रोमांचक भी है कि सहस्रों वर्ष पूर्व हमारे पूर्वज क्या सोच-विचार करते थे, प्रकृति के प्रति तथा प्रकृति का निर्माण करनेवाली एक दिव्य सत्ता के प्रति उनके मन में कैसी उथल-पुथल मची रहती थी और उनका सामाजिक व सांस्कृतिक चिन्तन किस तरह का था! इस स्तम्भ में हम आपके साथ उनकी कुछ ऐसी ही अनुभूतियों के सहभागी बनेंगे।

ऋग्वेद के कुछ सूक्त दार्शनिक विचारों के लिए बड़े प्रसिद्ध रहे हैं, यथा — पुरुष-सूक्त, नासदीय-सूक्त, हिरण्यगर्भ-सूक्त, वाक्-सूक्त आदि। यहाँ उल्लेखनीय तथ्य यह है कि छठवीं शताब्दी ईसा पूर्व का आयोनियत दार्शनिक थेलिस, सम्पूर्ण पाश्चात्य दर्शन का पितामह माना जाता है, क्योंकि उसी ने सबसे पहले यह प्रश्न उठाया था कि यह सारा जगत किससे पैदा हुआ है। किन्तु ऐसे सैकड़ों प्रश्न हमारे वैदिक आर्यों के मन में थेलिस से भी हजारों वर्ष पूर्व उथल-पुथल मचाया करते थे। ऋग्वेद का नासदीय-सूक्त (१०-१२६) उनके ऐसे ही मन की एक सुन्दर झाँकी दिखाता है। डॉ. राधाकृष्णन के मतानुसार यह सृष्टि की उत्पत्ति विषयक एक अत्यन्त उच्च सिद्धान्त है। इस सूक्त में कुल ७ ऋचाएँ हैं, जो इस प्रकार हैं —

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्।१।

— इस जगत के उत्पन्न होने के पूर्व न असत् था और न सत् था। उस समय नाना लोक भी नहीं थे। न आकाश था और न उसके परे कुछ था। उस समय क्या

कैसे आवृत्त किये था? यह सब फिर कहाँ था और किसके आश्रय में था? क्या यह आदिकालीन गहन और गम्भीर जल था (जिसमें यह सब स्थित था)?

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास।२।

– उस समय न मृत्यु थी और न अमृतत्व ही था। रात और दिन में भेद करनेवाला प्रकाश भी नहीं था। वह एक ही उस समय बिना श्वास-प्रश्वास की क्रिया के जीवित रहनेवाला विद्यमान था। उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं था।

तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिना जायतैकम्।३।

– सृष्टि के पूर्व अन्धकार था और वह भी अन्धकार से व्याप्त था। वह कुछ भी विशेष ज्ञानयोग्य न था। वह एक ऐसा अंकुर था जो भूसी से ढँका हुआ था, उस एक की उत्पत्ति तप (उष्मा) की शक्ति से हुई।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।४।

— प्रारम्भ में उसे कामना ने आविर्भूत किया, जो मानस से उत्पन्न बीज था। कवियों ने अपने हृदय में खोज करने के पश्चात् बुद्धि द्वारा असत् के साथ सत् के सम्बन्ध का पता लगाया।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन् त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्।५।

— इस पूर्वोक्त तत्व की रश्मि सूर्यरश्मि के समान दूर दूर तक व्याप्त हुई, नीचे और ऊपर भी 'रेतस' को धारण करनेवाले तत्व थे। वे महान सामर्थ्यवाले थे। 'स्वधा' अर्थात प्रकृति नीची बनाई गई है और उससे ऊँची शक्ति प्रयत्नवाला आत्मा है।

को अद्धावेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इय विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव।६।

— ठीक-ठीक कौन जान सकता है? इस विषय में कौन उत्तम रीति से प्रवचन या उपदेश कर सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से प्रकट हुई? यह विविध प्रकार का सर्ग किस मूल कारण से और क्यों हुआ? विद्वान लोग भी इस जगत को विविध प्रकार रचनेवाले मूल कारण के पश्चात् हुए हैं। तो फिर कौन उस तत्व को जानता है, जिससे यह जगत चारों ओर प्रगट हुआ?

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद।७।

— जिससे इस सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ, उसने इसे बनाया या नहीं बनाया? ऊँचे से ऊँचा देखनेवाला, वही यथार्थ रूप से जानता है, या फिर क्या वह भी नहीं जानता?

□

वेदों का कवित्व

वेदों के संहिता भाग को पढ़ते समय उसमें भी जगह जगह अपूर्व काव्य-सौन्दर्य का परिचय मिलता है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के नासदीय सूक्त को पढ़ो। उसमें प्रलय के गम्भीर अन्धकार के वर्णन में है — तम आसीत् तमसा गूढमग्रे — इत्यादि — 'जब अन्धकार से अन्धकार ढँका हुआ था।' इसके पाठ से ही ऐसा जान पड़ता है कि कवित्व का अपूर्व गाम्भीर्य इसमें भरा है। क्या तुमने इस बात पर ध्यान दिया है कि भारतेत्तर देशों में तथा भारत में भी गम्भीर भावों के चित्र खींचने के अनेक प्रयत्न किये गये है? भारतेत्तर देशों में यह प्रयत्न सदा जड़ प्रकृति के अनन्त भावों के वर्णन में ही हुआ है — केवल अनन्त बाह्य प्रकृति, अनन्त जड़, अनन्त देश का वर्णन हुआ है। जब भी मिल्टन या दाँते या किसी दूसरे प्राचीन अथवा आधुनिक यूरोपीय बड़े कवि ने अनन्त का चित्रांकन करने का प्रयास किया है, तब तब उन्होंने अपने कवित्व के पंखों पर विचरते हुए अपने बाहर दूर आकाश में विचरते हुए बाह्य अनन्त प्रकृति का कुछ कुछ आभास देने की चेष्टा की है। यह चेष्टा यहाँ भी हुई है। बाह्य प्रकृति का अनन्त विस्तार जिस प्रकार वेद संहिता में चित्रित होकर पाठकों के सामने रखा गया है, वैसा अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिलता। संहिता के — तम आसीत् तमसा गूढम् — वाक्य को याद रखकर तीन भिन्न भिन्न कवियों के अन्धकार वर्णन के साथ इसकी तुलना करके देखो। हमारे कालीदास ने कहा है, 'सूचीभेद अन्धकार', उधर मिल्टन कहते हैं, 'उजाला नहीं दृश्यमान अन्धकार है।' परन्तु ऋग्वेद संहिता में है — 'अन्धकार से अन्धकार ढँका हुआ है, अन्धकार के अन्दर अन्धकार छिपा हुआ है।'

— स्वामी विवेकानन्द

श्री सारदादेवी की स्मृतियाँ

स्वामी सत्स्वरूपानन्द

शास्त्र में लिखा है — "निराकापि साकारा कस्त्वां वदितुमर्हति" — निराकार होकर भी वे क्यों आकार ग्रहण करती हैं? "उपासकानां कार्यार्थं श्रेयसे जगतामपि"-- भक्तों तथा मुमुक्षुओं के लिए मुक्ति का द्वार उन्मुक्त करने के लिए, जगत् का कल्याण करने के लिए इस बार मातृरूपिणी पराशक्ति पृथ्वी पर अवतीर्ण हुई हैं। महामाया सारदा ने इस बार असंख्य अनुगतों पर अनेक प्रकार से, शत रूपों में कृपा की है। शतरूपा सारदा की शत रूपों में अभिव्यक्ति हुई है, "उपासकानां कार्यार्थं श्रेयसे जगदामपि।" मेरा यह छोटा-सा जीवन ज्योति-स्वरूपिणी सारदा के शतरूपों की एक रश्मि पाकर ही निहाल हो गया है। जीवन की इस सान्ध्य बेला में वह भास्वर ज्योति आज भी परम उज्ज्वल चिन्मय सत्ता के रूप में अम्लान बनी हुई है। जो अव्यक्त हैं, जो अचिन्त्य हैं, उन्हें भाषा में व्यक्त करने का यह मेरा क्षीण प्रयास है।

मेरी आयु उस समय चौबीस-पच्चीस वर्ष की रही होगी। १९१९ ई० में मैं कटिहार के एक स्कूल में शिक्षक के रूप में कार्य करता था। एक मेस में रहकर वहीं से स्कूल के लिए आना-जाना करता था। वहीं मेरा अघोर बाबू नामक एक सज्जन के साथ परिचय हुआ। एक दिन मैंने देखा कि उनके निर्माणाधीन मकान से गेरुआ वस्त्र पहने एक व्यक्ति हमारे मेस की ओर चले आ रहे हैं। कई दिनों तक बार बार उन्हें मेस में आते देखकर कुतूहलवश पूछताछ करने पर पता चला कि वे बेलुड़ मठ के संन्यासी हैं और धर्म-प्रचार करने के निमित्त कटिहार आये हुए हैं। अघोर बाबू के मकान के पारिवारिक स्नानागार में असुविधा होने के कारण अघोर बाबू की व्यवस्था के अनुसार स्नान आदि से निपटने के लिए वे नित्य हमारे मेस में आया करते थे। साधु-संन्यासियों के प्रति मेरे मन में एक स्वाभाविक आकर्षण होने के कारण कुछ दिनों के भीतर उनके साथ मेरा परिचय भी हो गया। बातचीत से पता चला कि उनका नाम स्वामी ज्ञानानन्द है, परन्तु वे ज्ञान महाराज के रूप में ही जाने जाते हैं। उन्होंने जयरामबाटी में काफी काल तक श्रीरामकृष्ण देव की सहधर्मिणी सारदामणि देवी की भी सेवा की थी। उन्हीं से मुझे माताजी के जीवन की अनेक अन्तरंग बातें सुनने को मिलीं। पता चला कि माँ की स्नेहपूर्ण करुणा

से कितने ही भक्तों के जीवन की गति ही बदल गयी। यही सब सुनते सुनते मेरे मन में भी एक बार माँ का दर्शन करने की इच्छा हुई। ज्ञान महाराज के सामने यह बात रखने पर, उन्होंने उत्साहित होकर आगामी दुर्गापूजा की छुट्टियों में ही जयरामबाटी जाकर माँ का दर्शन करने को कहा।

१९१९ ई० की पूजा की छुट्टियों में ज्ञान महाराज स्वयं ही मुझे अपने साथ जयरामबाटी ले गये थे। माँ उन दिनों अपने नये मकान में थीं। वहीं मकान के बाहरी कमरे में मेरे रहने की व्यवस्था हुई। मन में अनेक कल्पनाएँ लेकर मैं जयरामबाटी गया था। ज्ञान महाराज ने मकान के भीतर जाकर समाचार दिया और मेरे लिए माँ के दर्शन की व्यवस्था करा दी। राममय महाराज (स्वामी गौरीश्वरानन्द) तब माँ के सेवक के रूप में वहीं थे। उनका छोटा-सा व्यक्तित्व मुझे बड़ा ही अच्छा लगा था। वे ही मुझे माँ के पास ले गये।

माँ उस समय अपने कमरे में चौकी पर पाँव लटकाए बैठी थीं। मैंने माँ को प्रणाम किया। माँ के हाथ-पाँव का गठन तथा चेहरा देखकर मुझे अपनी दादी-माँ की याद हो आयी थी। उनके भीतर उस समय मुझे कोई देवीभाव नहीं दिखा था। उनके हाथ-पाँवों का गठन बड़ा कर्मठ और कठोर प्रतीत हुआ था। यदि वे स्वयं ही अपना स्वरूप व्यक्त न कर दें, तो उन्हें समझ पाने की भला किसमें सामर्थ्य है? "मायया बहुरूपिणी" — अपना स्वरूप उन्होंने माया से आवृत्त कर रखा है और साथ ही हमारी दृष्टि तथा बुद्धि को भी आच्छन्न कर रखा है। लगता है तब मेरा समय आया नहीं था!

सुना कि माँ का स्वास्थ्य ठीक नहीं है। ज्ञान महाराज की इच्छा थी कि मैं उसी बार माँ से दीक्षा ले लूँ। परन्तु माँ ने कहा, "बेटा, अभी तबीयत ठीक नहीं है, दीक्षा बाद में होगी।" मेरा मन भी सम्भवतः इसके लिए ठीक ठीक तैयार नहीं हो सका था, इसीलिए छलनामयी माँ ने अस्वस्थता का भान करके मुझे तत्काल स्वीकार नहीं किया। उस बार मैं वहाँ कई दिन रहा। मैंने दूर से माँ को अनेकों बार उनके घरुआ परिवेश में काम-काज में व्यस्त देखा। परन्तु मन में सचमुच ही किसी उच्च भाव की अनुभूति नहीं हुई। तो भी इतना बोध तो अवश्य हुआ था कि माँ स्नेहमयी हैं और अपने किसी निकटतम आत्मीय के समान हैं। विदा लेते समय जब मैं उन्हें प्रणाम करके निकल रहा था, तब माँ ने स्वयं ही मेरे मुख की ओर देखते हुए एक बात कही। मेरे पहले जो लोग प्रणाम करने गये थे, उन लोगों ने फूल, बिल्वपत्र आदि के साथ उन्हें पत्तों सहित आँवले की एक डाली भी दी

थी। माँ उस समय पूजा के आसन पर ही बैठी थीं। प्रणाम के बाद माँ ने सहसा आँवले के उन पत्तों को उठाकर मुझे दिखाते हुए कहा — "जानते हो बेटा, आँवले के ये पत्ते भी बिल्वपत्र के समान ही शिवजी को अत्यन्त प्रिय हैं।" उन्होंने यह बात क्यों कही, नहीं जानता; परन्तु उनका वह विधान मुझे आज भी स्मरण है। अपने कर्मस्थल को लौट आया। परन्तु मन बीच बीच में जयरामबाटी को दौड़ जाया करता था।

ज्ञान महाराज ने आशा नहीं छोड़ी थी। उनके प्रोत्साहन तथा प्रेरणा से उसी वर्ष बड़े दिन की छुट्टियों में मैं पुनः जयरामबाटी गया। इस बार भी नये मकान के बाहरी कमरे में ही हमारे ठहरने की व्यवस्था हुई। फिर राममय महाराज ही मुझे माँ के पास ले गये। परन्तु इस बार माँ को प्रणाम करने पर उन्होंने कुछ ऐसा भाव व्यक्त किया कि पिछली बार उनकी अस्वस्थता के कारण दीक्षा नहीं हो सकी थी, सो इस बार हो जाने से अच्छा रहेगा। माँ की इस अप्रत्याशित इच्छा ने मेरे मन में बड़ी उत्तेजना उत्पन्न की। मैंने जब आनन्दपूर्वक माँ के सामने अपनी कामना व्यक्त की, तो उन्होंने अगले दिन के लिए ही दीक्षा का दिन निर्धारित कर दिया। अगले दिन प्रातःकाल पुण्यपुकुर में स्नान करके बिना कुछ खाए हृदय में एक विचित्र अनुभूति लिए मैं माँ के कमरे में प्रविष्ट हुआ। दीक्षा के लिए मैंने कोई तैयारी नहीं की थी। गुरु-दक्षिणा के लिए साथ में कुछ ले भी नहीं गया था। मुझ अकिंचन को माँ ने अपने कमरे में पास बैठाकर महामन्त्र प्रदान किया। दीक्षा के बाद उन्होंने मुझसे तीन बार जप भी करा लिया। ठीक उसी समय मेरे सामने से एक अद्भुत पर्दा खिसक गया! "मोक्षद्वार-कपाट-पाटनकरी" करुणामयी माँ ने उस समय न जाने क्या किया, पता नहीं! परन्तु उनके मुख की ओर दृष्टि उठाते ही मैंने उनमें अपने इष्टमन्त्र की अधिष्ठात्री देवी को देखा। ऐसा मैंने तीन बार देखा। मुझे अवाक् होकर अपनी ओर ताकते देखकर माँ कह उठीं, "क्या देखते हो बेटा? जो देख रहे हो, ठीक ही देख रहे हो।" कृपामयी माँ ने मेरे नेत्रों का आवरण हटाकर अपना स्वरूप व्यक्त कर दिया। अनन्तरूपा सारदा की वराभया मूर्ति मेरे सामने प्रकट हुई। मेरा सर्वांग सिहर उठा और मैं विस्मय तथा आनन्द से स्तब्ध था। माँ ने कहा, "बेटा, दक्षिणा दो।" मेरे पास कुछ था नहीं। तब माँ ने ही दिखा दिया — कमरे के कोने में कुछफल रखे हुए थे। उन्हीं में से एक लाकर अपने को देने का उन्होंने निर्देश दिया। यन्त्रचालितवत् मैंने वही फल उन्हें अर्पित किया। मेरा जीवन कृतार्थ हुआ! मनुष्य-जन्म सार्थक हुआ! प्रणाम के उपरान्त बाहर आकर मैं सोचने लगा — यह

क्या हुआ?

उस दिन दोपहर के समय सभी भक्तों के साथ मैं भी माँ के कमरे के बरामदे में प्रसाद पाने को बैठा था। मैं नवागत था, थोड़े संकोची स्वभाव का था, इसीलिए पंक्ति के बिल्कुल अन्तिम छोर पर बैठा था। परोसना आरम्भ होते ही मैंने देखा कि माँ आकर अपने कमरे के द्वार पर खड़ी हैं। उनका एक हाथ चौखट के ऊपर था। बड़े स्नेहपूर्वक देखते हुए वे सबको खिला रही थीं। दीक्षा के समय की भाँति ही इस बार भी मैंने पुनः माँ की वही वराभया मूर्ति देखी। मैं सिर नीचा किये हुए ही भोजन कर रहा था। सहसा एक जन ने आकर मुझे खीर की एक कटोरी देकर कहा, "माँ ने आपके लिए भेजा है।" मुख उठाकर देखा तो माँ मृदु स्वर में कह रही थीं, "खाओ बेटा, पूरा खा लो।" उस समय मेरी खाने की हालत न थी। माँ के उस अलौकिक स्नेह, अयाचित करुणा से मेरी आँखें डबडबा आयी थीं। आवेग तथा उद्वेग से मेरा कण्ठ प्रायः अवरुद्ध था और सबके बीच अपने लिए यह विशेष व्यवस्था देखकर मैं संकुचित हो उठा था। धीरे धीरे मैंने सारा प्रसाद समाप्त कर डाला। जीवन के इस स्मरणीय दिन की यह अविस्मरणीय घटना आज भी मेरे स्मृतिपटल पर उज्ज्वल बनी हुई है।

उस बार जयरामबाटी में और भी कई दिन रहा। माँ के गृही-भक्त विभूति बाबू तथा सेवक राममय महाराज से मैंने जप-ध्यान के विषय में सब कुछ जान लिया था। इसलिए माँ से उन सब विषयों में कुछ जानकारी नहीं मिली। केवल जितने दिन वहाँ रहा, दोनों समय माँ को कभी उनके कमरे में, तो कभी बरामदे में प्रणाम करने जाया करता था। जयरामबाटी में रहते समय मैंने माँ को खूब सहज, स्वच्छन्द तथा स्वाभाविक रूप में देखा। मुझे उनका मानवी भाव ही देखने को मिला। मेरे समक्ष उनका करुणाकलित जननी भाव ही जयरामबाटी में प्रकट हुआ था। सम्भवतः उनका अपना परिवेश तथा परिजन ही इसके कारण थे। लौटने के दिन उन्हें प्रणाम करते ही उन्होंने सिर पर हाथ रखकर मृदु स्वर में आशीर्वाद देते हुए कहा, "सुखी रहो, बेटा।" वही स्वर अब भी कानों में गूँजता है।

१९२० ई. के प्रारम्भ से ही माँ का स्वास्थ्य क्रमशः बिगड़ रहा था। मार्च में उन्हें चिकित्सा के लिए उद्बोधन में लाया गया। उसी समय मुझे कलकत्ते से ज्ञान् महाराज की लिखी एक चिट्ठी मिली। उससे पता चला कि माँ का स्वास्थ्य अत्यन्त खराब है। दर्शन करना हो, तो अब विलम्ब न करना ही अच्छा होगा। यह पेत्र पाने के बाद जुलाई के प्रारम्भ में मैं कलकत्ता आकर श्यामबाजार के मकान में ठहरा

और यथासमय माँ का दर्शन करने उद्‌बोधन गया। उस समय माँ की तबीयत काफी खराब थी और वे बिस्तर पकड़े थीं। केवल दर्शन तथा प्रणाम ही हुआ। उद्बोधन में माँ मानो एक अन्य ही भाव में रहती थीं। उनका दर्शन करने के लिए समयानुसार भक्तों की पंक्ति के साथ जाना पड़ता था। यहाँ माँ का जयरामबाटी वाला सहज, स्वच्छन्द रूप मानो देवित्व के आवरण में प्रच्छन्न रहा करता था। इस बार उनके साथ कोई बात हुई हो ऐसा स्मरण नहीं आता।

माँ के स्थूल देह का परित्याग कर देने के बाद मैंने उनका अन्तिम दर्शन किया। माँ के देहत्याग का समाचार पाकर अगले दिन सबेरे ही मैं उनके चरणों में अपना अन्तिम प्रणाम ज्ञापित करने जा पहुँचा। उस दिन बेलुड़ मठ में पवित्र होमाग्नि में दिव्य शरीर की आहुति होने तक पूरे दिन भर मैं निकट ही रहा।

मैं थोड़े शुष्क स्वभाव का व्यक्ति हूँ। साधु-भक्तों के मुख से सुना कि ब्रह्मशक्ति ने जगन्माता के रूप में इस दिव्य शरीर के माध्यम से लीला की है और मुझे इस पर विश्वास भी हुआ था। परन्तु स्वयं को वैसी अनुभूति तब तक नहीं हुई थी। केवल माँ के स्नेह तथा उनके अपार्थिव भावों से परिपूर्ण माँ के मुखमण्डल ने मेरे मन पर गहरी छाप डाली थी। यही लगता कि ऐसा मुख इस जगत में दिखाई नहीं देता। माँ की जीवनी में है कि काशी में एक महिला-भक्त द्वारा माँ के सामने ही गोलाप-माँ को 'माँ' समझ लेने पर, उनकी डाँट खाते हुए सामने बैठी माँ को दिखाते हुए कहते सुना गया था — "देखती नहीं हो? ऐसा मुख क्या मनुष्य के होता है!" मुझे भी जब जब माँ का मुख देखने को मिला था, तब तब केवल यही प्रतीत हुआ था — ऐसा मुख क्या मनुष्य के होता है!

मनुष्य शरीर तथा मनुष्य की चाल-चलन लेकर जो आविर्भूत हुई थीं, उनके भीतर केवल दो-एक बार दैवी, अपार्थिव भाव की झलक मात्र मिलने के बावजूद मैंने यही समझा है कि उनके मुखमण्डल का वह स्निग्ध गाम्भीर्य उनकी आन्तरिक सत्ता की बाह्य अभिव्यक्ति है।

आज जीवन के अन्तिम पर्व में जीवननौका श्रीरामकृष्ण-समुद्र की ओर बही जा रही है। जिन्होंने इस नौका का पतवार थाम रखा है, उनके सिर का घूँघट बीच बीच में खिसक जाने पर आज भी उस मुख की झलक मिल जाती है। और उन्हीं के आसरे, उन्हीं के मुख की ओर देखते हुए मैं निश्चिन्त पड़ा हूँ।

(बंग्ला ग्रंथ 'शतरूपे सारदा' से अनुवादित)

□

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(बँगला पत्रों से संकलित)

— ५७ —

प्रभु तुम लोगों से अपना कार्य करा लें और तुम लोग भी मन-प्राण से उनका कार्य सम्पन्न कर धन्य हो जाओ, इससे बढ़कर और क्या चाहिए?

'अब तक कुछ भी उपलब्धि न कर सका' — कहकर तुमने कितना दुःख प्रगट किया है? तुमने लिखाहै कि 'निरानन्द में दिन क्यों बीत रहे हैं? — मैं इसे स्पष्ट समझ नहीं सका। यदि भगवान की प्राप्ति न होने के कारण सचमुच ही निरानन्द बोध कर रहे हो, तो फिर निःसन्देह तुम्हारे शुभ दिन आ गये हैं। जितना ही इस तरह का बोध घनीभूत होगा, समझना कि प्रभु की कृपा उतनी ही सन्निकट है। औरयदि अन्य कोई कामना हृदय में रहकर इस निरानन्द का भाव उत्पन्न करती हो, तो अविलम्ब उसे मन से दूर करने का प्रयास करना। इसमें किसी भी प्रकार की ढिलाई न हो, क्योंकि यही परमार्थ पथ की मुख्य बाधा है। सर्वदा योग्य होने का प्रयत्न करना, तभी तो भगवान प्रसन्न होकर तुम्हें सभी सुखों का अधिकारी बनाएँगे। "गुरु के घर में गौ जैसे पड़े रहना" — किसी महापुरुष (पवहारी बाबा) से यह उपदेश पाकर स्वामीजी ने हमें बारम्बार सुनाया था। उन्होंने और भी एक परम हितकारी उपदेश बताया था — "गुरुभाई को गुरु के समान ही समझना।" प्रभु के द्वार पर पड़े रहना ही असल कर्तव्य है। पड़े रहने पर उनकी दया अवश्य ही होगी। निरानन्द दूर होकर महानन्द का आविर्भाव होगा। यदि वेमुझे अपने द्वार पर पड़ा रहने दें, तो यही उनकी महती कृपा है — जो लोग इसकी उपलब्धि करते हैं, वे निःसन्देह शीघ्र ही प्रभु के कृपापात्र बनते हैं। सम्पूर्ण मन-प्राण से उन्हें प्रेम करने का प्रयास करना। अपने आनन्द और निरानन्द की चिन्ता क्यों करते हो? उसी में कल्याण है — यही भाव हृदय में दृढ़ हो जाय और सदा जाग्रत रहे, इसके लिए पूर्ण अन्तःकरण से प्रार्थना करना। इसी से सर्व प्रकार का कल्याण होगा।

— ५८ —

तुम मन को चंचल न होने देना। समय आने पर प्रभु स्वयं ही सब ठीक कर देंगे। प्राणपण से उनका भजन किए जाओ तो समझूँ! इधर-उधर जाकर क्या होगा? हृदय में उनका दर्शन पाने का प्रयास करो, पूर्ण चैतन्य की उपलब्धि होगी। खुब परिश्रम के साथ शास्त्र का अनुशीलन करना, ध्यान-भजन में भी लगे रहना। साधन-भजन ही सार है और शास्त्र उसमें सहायक हैं।

— ५९ —

जहाँ भी रहो, खूब प्राणपण से भजन करो, तभी प्रभु की कृपा से चित्त स्थिर हो जाएगा। अन्यथा कहीं भी जाओ सब समान है, भजन के बिना कहीं भी शान्ति नहीं मिलेगी, यह निश्चित रूप से जान लेना। यदि रिलीफ का कार्य प्रारम्भ हो जाय, तो तुम लोगों की यात्रा निष्फल न होगी। ... को मेरी शुभ कामनाएँ बताकर कहना कि प्रभु की इच्छा ही पूर्ण होती है। मनुष्य भला क्या करेगा? तथापि इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं कि उनकी इच्छा में अपनी इच्छा को अर्पित कर शरणागत हो जाने पर, किसी भी प्रकार का भय या चिन्ता नहीं रह जाती और सब कुछ मंगलमय हो जाता है।

— ६० —

स्मरण-मनन जितना भी हो सके करना। अभ्यास करने पर सब कुछ आसान हो जाता है, यह बात निश्चित है। धीरे-धीरे इसका अभ्यास और उनसे प्रेम करना होगा। सब कुछ अनित्य और असार समझकर मन-प्राण पूर्णरूपेण उन्हें अर्पित कर पाने पर, हृदय में प्रेम का उदय होता है। एक बार उनसे यथार्थ प्रेम हो जाने के बाद भय की कोई बात नहीं। उनकी शरण लेने पर वे ही सब कुछ करा लेते हैं।

— ६१ —

शरीर ऐसे ही रहा करता है — शीर्यते वयोभिः कौमारं यौवनं वार्धक्यादिभिः। (अर्थात आयु के द्वारा, कौमार्य और वृद्धावस्था आदि के द्वारा यौवन का दिनों-दिन क्षय हो रहा है।) "चिरस्थायी कभी न होवे मानव की यह काया।" जन्म हुआ है तो मृत्यु अवश्यम्भावी है, कब, कहाँ और कौन अमर हुआ है? परन्तु शरीर के ताप से सन्तप्त न होना अहोभाग्य है। अपने आपको शरीर से पृथक बोध करना मामूली बात नहीं। प्रभु की कृपा से यह अनुभूति हो, तो परम आनन्द की प्राप्ति होती है।

पत्नी-पुत्रादि की चिन्ता में आप भला क्यों व्यग्र होंगे? मैंने यह कहा था कि प्रभु की कृपा से आप अपना सर्वस्व उन्हीं को समर्पित कर निश्चिन्त हो जायँ। स्त्री-पुत्रादि सब उन्हीं के हैं। आपके ऊपर केवल उनके पालन-पोषण का भार है — बस इतना ही। ठाकुर कहते थे न — बड़े घर की दासी बाबू के लड़के को 'मेरा हरि' आदि कहकर लालन-पालन करती हैं, परन्तु यह बात निश्चित रूप से जानती है कि उसका अपना घर बर्धमान जिले में है। आप लोगों का अन्दर का त्याग है — संसार भगवान का है यह जानकर अनासक्त भाव से रहना। संसार विचारपन्थियों के लिए बाधा स्वरूप है, आप लोगों के लिए नहीं। आप लोगों के

लिए तो प्रभु कहते हैं —

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।[१]
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।[२]
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि ...।[३] इत्यादि।

आप लोगों का सारा भार तो प्रभु ने स्वयं ही ग्रहण किया है। भाग्यवान का भार भगवान स्वयं वहन करते हैं। आप लोग भाग्यवान हैं। आपने जिन श्लोकों को उद्धृत किया है, वे सब ऐसे ज्ञानमार्गियों के लिए हैं, जो पुनः जन्म लेने से डरते हैं। परन्तु प्रभु के भक्तगण तो भक्ति की ही प्रार्थना करते हैं। वे कहते हैं—

कीटेषु पक्षिषु मृगेषु सरीसृपेषु रक्षःपिशाचमनुजेष्वपि यत्र यत्र।
जातस्य मे भवतु केशव त्वत्प्रसादात् त्वय्येव भक्तिरचलाऽव्यभिचारिणी च।[४]

ठाकुर ने मुझसे कहा था — "जो लोग मुक्ति के लिए प्रार्थना करते हैं, वे हीन बुद्धिवाले हैं — भय से मरे जा रहे हैं। चौसर के खेल में मानो हमेशा घर में घुसने का प्रयास कर रहे हैं। गोटी एक बार पक जाने पर फिर उसे निकालना नहीं चाहते। इनको कहते हैं — कच्चा खिलाड़ी। और पक्का खिलाड़ी मारने का सुयोग मिले तो अपनी पकी हुई गोटी को भी कच्चा कर डालता है। फिर तुरन्त ही 'पड़ बारह' कहकर पासा फेंकते ही फिर आगे निकल जाता है। उसका पासा उसके हाथ के वश में है। जैसा चाहता है, वैसे ही पड़ता है। अतः भय नहीं है — निर्भीक होकर खेलता है।"

मैंने कहा था — "क्या ऐसा सचमुच ही होता है?" प्रभु बोले — "अवश्य होता है। माँ की कृपा से सब ठीक हो जाता है। जो खेलता है, माँ उसी से स्नेह करती है। जैसे चोर-चोर के खेल में — जो दौड़ दौड़ कर खेलता है बुढ़ी उसी पर

१. उनके ऊपर कृपा करने के लिए मैं उनकी बुद्धिवृत्ति में अवस्थित होकर, ज्ञानदीप के द्वारा उनके अज्ञानजनित अन्धकार का नाश कर देता हूँ। (गीता १०/११)
२. हे पार्थ, मुझमें निविष्ट चित्तवाले ऐसे लोगों को मैं शीघ्र ही मृत्युभय से युक्त संसार-सागर से पार कर देता हूँ। (गीता १२/७)
३. मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा। (गीता १८/६६)
४. हे केशव! कीट, पशु, पक्षी, सरीसृप, राक्षस, पिशाव, मनुष्य — चाहे जिस योनि में भी मेरा जन्म हो, तुम्हारी कृपा से तुम्हारे प्रति मेरी सर्वदा अचला और अव्यभिचारिणी भक्ति बनी रहे। (प्रपन्नगीता)

ख़ुश रहती है। हुआ तो कभी-कभी उसकी ओर हाथ भी बढ़ा देती है। उसे छू लेने पर वह फिर चोर नहीं होता। परन्तु जो पास पास ही बना रहता है, बूढ़ी उस पर इतनी ख़ुश नहीं रहती। इसी प्रकार जो लोग निर्वाण अर्थात खेल बन्द कर देना चाहते हैं, माँ उनसे उतनी प्रसन्न नहीं होती। माँ खेलना पसन्द करती हैं। इसी करण भक्तगण मुक्ति नहीं चाहते। वे कहते हैं — 'रे मन! चीनी होना अच्छा नहीं, मैं तो चीनी खाना ही पसन्द करता हूँ।''

ठाकुर और भी एक बात बारम्बार कहा करते थे, जो सबको मालूम है; वे कहते थे — शास्त्र-वास्त्र क्या हैं? बस, याददास्त के लिए हाथ से लिखे हुई सूचीपत्र के समान है, मिलाकर देखने के लिए कि सारीचीजें आ गई हैं या नहीं। सामान आ जाने पर सूची फेंक दी जाती हैं। घर में झाड़ू देते समय वह कागज हाथ में पड़ जाने पर कहते हैं, 'देखूँ, देखूँ।' देखते हैं कि उसमें लिखा है — ''पाँच सेर मिठाई, एक कपड़ा'' इत्यादि। उसे देखकर कहते हैं — 'अरे, वह सब तो भेजा जा चुका है, पुरजे को फेंक दो।' शास्त्र भी वैसा ही है — ज्ञान होने पर, भक्ति होने पर क्या-क्या होता है, यही सब उसमें लिखा है। इसीलिए उसे देखकर मिला लेना पड़ता है। यदि वस्तु न आयी हो, तो वस्तुलाभ का प्रयास कना होगा। और यदि आ गयी हो, तो फेंक देना होगा। इसीलिए तो कहा है — ब्रह्मज्ञाने तृणं शास्त्रम्। ठाकुर कहा करते थे कि वेद, शास्त्र, पुराण, तंत्र आदि समस्त ग्रन्थों मे जो कुछ भी है, वह सब माँ ने उन्हें दिखा दिया था। इसीलिए तो उन्होंने निरक्षर होकर भी बड़े-बड़े पण्डितों का गर्व चूरकर दिया था। वे कहा करते थे कि माँ सरस्वती की एक रश्मि पा जाने पर शेष सारा ज्ञान फीका पड़ जाता है। फिर उसको किसी भी प्रकार के ज्ञान का अभाव नहीं रह जाता।

ज्ञाननिधि को प्राप्त करने के लिए आप प्राणमय से परिश्रम कर रहे हैं और भक्तिनिधि पाकर उनसे प्रेम कर रहे हैं। और अपने परम सौभाग्य या उनकी अहैतुक दया के फलस्वरूप, जैसे भी हो वह निधि भी हमें प्राप्त हैं। अतः अब हमें सम्पूर्ण हृदय के साथ उसी निधि से प्रेम करना चाहिए। ऐसा होने पर शेष सब अपने आप हो जाएगा। उनसे प्रेम करने पर जगत तो भूल ही जाएगा, फिर उनकी कृपा से देहबुद्धि भी चली जाएगी। विचार या तपस्या के द्वारा जिसका होना है हो, पर हम लोगों ने तो इस सम्बन्ध में निराश होकर उनके चरणकमलों में आश्रय लिया है। अब उनकी जैसी इच्छा हो, करें — यही सार बात जानकर उनके द्वार पर पड़ा हूँ। मैं जानता हूँ कि आपके शरण भी वे ही हैं, अतः भय की कोई बात नहीं।

□

प्रेरक - प्रसंग

शरत् चन्द्र पेंढारकर

'विवेक-ज्योति' में 'मानववाटिका के सुरभित पुष्प' शीर्षक के अन्तर्गत अनेक वर्षों तक प्रकाशित होनेवाली महापुरुषों के जीवन की पाँच सौ से भी अधिक प्रेरणादायी घटनाओं का अभूतपूर्व संकलन। पहले यह ग्रन्थ तीन भागों में प्रकाशित हुआ था और अब उसमें चौथे भाग की अप्रकाशित सामग्री को जोड़कर यह तीसरा अखण्ड संस्करण नयी साज-सज्जा के साथ प्रस्तुत किया गया है।

डबल डेमी आकार में ३१६ पृष्ठों के
इस संग्रहणीय ग्रन्थ का मूल्य मात्र ४० रुपये
(कीमत अग्रिम भेज देने से डाकव्यय नहीं देना होगा।)

अपनी प्रति के लिए आज ही लिखें -

(१) विवेक-ज्योति कार्यालय
पो० विवेकानन्द आश्रम, रायपुर - ४९२००१ (म. प्र.)

(२) रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर - ४४००१२

(३) अद्वैत आश्रम, ५ दिही एण्टाली रोड़, कलकत्ता - ७०००१४

मर्यादापुरुष श्रीराम

डॉ. प्रणव कुमार बनर्जी

भगवान श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "जिह्वा के स्पर्श से विश्व की सारी चीजें जूठी हो जाती हैं, परन्तु ईश्वर का स्वरूप कभी जूठा नहीं हो सकता, क्योंकि जिह्वा कभी उसे व्यक्त नहीं कर सकती।" ईश्वर के जिस स्वरूप का वर्णन सम्भव नहीं, सर्वसाधारण उस ईश्वर की धारणा भला कैसे करे? इसीलिए भगवान धर्म की स्थापना तथा भक्तों के उद्धार हेतु युग युग में अवतार लेते हैं। त्रेता युग में वे दशरथतनय श्रीराम के रूप में अवतीर्ण हुए थे।

राम मर्यादा-पुरुषोत्तम कहे जाते हैं। पग पग पर वे भक्तों को मर्यादा की शिक्षा देते हैं ताकि आराध्य के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए भक्त अपने मार्ग पर चल सके। रत्नाकर एक लुटेरे थे, परन्तु वे 'राम राम' जपकर वाल्मीकि नामक सन्त बन गये। ऐसे सन्त कि जिन्हें प्रणाम निवेदित किये बिना ब्राह्मण का धर्मस्नान पूर्ण नहीं हो पाता। हुलसी का पुत्र अभुक्तमूल नक्षत्र में जन्म लेने के कारण परित्यक्त हो गया। कुंद समाज में मूल नक्षत्र के पुरोहिती अत्याचार को समूल उखाड़ फेंकने की कोई तत्परता या मानसिकता ही नहीं थी, पर एक नाम की शरण लेकर हुलसी का वही पुत्र प्रातःस्मरणीय तुलसीदास बन गये।

जिनके नाम की इतनी महिमा है कि उसके स्पर्श से जंग खाया लोहा भी सोना बन जाए, उनके द्वारा स्थापित मर्यादाओं का अनुसरण यदि एक सम्पूर्ण समाज या राष्ट्र को ही इतिहास के अनेक थपेड़ों के बीच एक कालजयी स्थिति में पहुँचा दे, तो इसमें भला आश्चर्य ही क्या? श्रीराम द्वारा स्थापित मर्यादाएँ यदि आकाश के ध्रुवतारे के समान पथप्रदर्शन के लिए प्रगट नहीं होतीं, तो भारत शायद भारत की तरह जीवित भी नहीं रह पाता। वे कौन कौन सी मर्यादाएँ हैं, जो सहज रूप में प्रत्यक्ष एवं अनुसरणीय रही है?

वे राजपुत्र थे। विद्यारम्भ का काल था। न भी पढ़ते तो क्या फरक पड़ता? किसी प्रमाण-पत्र की भी उन्हें आवश्यकता नहीं थी। तथापि आचार्य के प्रति पूर्ण समर्पण तथा श्रद्धा के साथ उन्होंने अध्ययन करते हुए विद्यार्जन में मनोनियोग किया। छात्र के रूप में राजपुत्र होकर भी वे किसी को कष्ट नहीं देते। प्रत्येक विषय में गम्भीर विद्यार्जन के आधार पर ही मानव के भविष्य की नींव पड़ती है। वे इस आधार को अंगीकार करते हैं — पलायन की कोई बात नहीं। आचार्य भी

मुक्तहस्त, राह चलते ज्ञान दे रहे हैं — केवल उत्कृष्ट परीक्षाफल में मदद करने की मानसिकता नहीं है। एक छात्र का जीवन कैसा होना चाहिए, श्रीराम का छात्र-जीवन इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

वाल्मीकि ने लिखा है कि उनके गौतम ऋषि के आश्रम में पहुँचते ही अदृश्य अहल्या तेजोदीप्त मानवी रूप में प्रगट हो गयीं। श्रीराम ने उन्हें 'माँ' कहकर प्रणाम किया। इस पर सारी विचारशीलता झनझना उठती है। धोखे से अपवित्र हुई परित्यक्ता को भगवान 'माँ' कहकर प्रणाम कर रहे हैं। तुलसी यहाँ क्षण भर के लिए विवादित-से लगते हैं। उनकी कृति में अहल्या पाषाण हैं। राम के चरणस्पर्श से अहल्या का उद्धार होता है। जिन अहल्या को वाल्मीकि रामायण में वे प्रणाम करते हैं, उन्हीं को रामचरितमानस में पैरों से छू रहे हैं। कैसा विरोधाभास है! पर नहीं। अखिल ब्रह्माण्ड के अधिपति श्रीराम के पादस्पर्श से भला कौन मुक्त नहीं हो सकता? जब केवल नाम-स्पर्श से रत्नाकर वाल्मीकि में परिणत हो सकते हैं, तो पाद-स्पर्श से अहल्या की मुक्ति असम्भव क्यों होगी? तुलसीदास की भक्ति अनायास ही हमारी समस्त भावनाओं को कृतार्थ कर देती है। छल की शिकार पवित्र नारियों के प्रति हमारी मानसिकता कैसी हो, यह भगवान इस अहल्या-प्रकरण में अपने आचरण के द्वारा दिखा देते हैं।

महाराज दशरथ ने अश्वमेध-यज्ञ किया था। अश्वमेध सम्पन्न करके चक्रवर्ती सम्राट बनने के लिए यह आवश्यक था कि वे सर्वोपरि प्रजारंजन की पात्रता प्राप्त करते। राज्य का एक भी व्यक्ति अतृप्त रह जाय, तो अश्वमेध अपूर्ण मानते थे। भूमि, धन-धान्य — सब वितरण करना पड़ता था। अनेक हिन्दू सम्राटों ने अश्वमेध किया था। उन्हीं की परम्परा में एक महाराज दशरथ भी थे। राम ने भी बाद में अश्वमेध किया। यज्ञ के बाद अश्व की बलि होती थी। कोई बड़ी शोभायात्रा निकालकर उन्होंने अपने अश्वमेध की पूर्ति का प्रदर्शन किया हो, ऐसा कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

महाराज दशरथ में अनेक गुण थे, परन्तु कमी केवल एक ही थी। उनके तीन पटरानियाँ थी, अन्य रानियाँ भी थी। वनवास का आदेश सुनते ही लक्ष्मण ने क्रुद्ध होकर कहा, "मैं कामान्ध पिता को कारागार में डालकर श्रीराम का राज्याभिषेक कराऊँगा।" परन्तु राम? किसे अपने भावी का प्रत्यक्ष ज्ञान है? किसे अपनी मृत्यु का क्षण ज्ञात है? दैनन्दिन जीवन के समस्त व्यापारों के बारे में भी कौन दावा कर सकता है कि उसके उतार चढ़ावों पर उसका नियंत्रण चलता है? माता-पिता सृष्टिचक्र

के प्रयोजन में केवल ईश्वरीय यंत्र मात्र है। कृष्णपक्ष का अन्धकार यदि आच्छन्न कैर ले, तो भी चन्द्रमा का प्रकाश म्लान नहीं होता। वनगमन का आदेश पाकर भी राम के चेहरे पर शिकन तक नहीं आती। वे माता से रुष्ट नहीं होते — पिता से कोई शिकायत नहीं करते। उनके लिए "पिता ही स्वर्ग, धर्म और तप है।" अनुचित आचरण करनेवाले माता-पिता के प्रति भी पुत्र का व्यवहार कैसा रहे इसका अनुपम सीमाकंन वे अपने व्यवहार से करते हैं।

राज्याधिकार के लिए चारों तरफ कितनी उठा-पटक हुआ करती है। श्रीराम महाराज दशरथ के जेष्ठ पुत्र थे। सहज रूप से सिंहासन पर सर्वप्रथम उन्हीं का अधिकार बनता था। लक्ष्मण जैसे भाई की उपस्थिति तथा भरत की अनुपस्थिति के कारण सिंहासन उनकी मुट्ठी में था। पर वे सिंहासन की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। अनासक्ति दिखाते हैं। वनवास को चले गये। वहाँ जन जन से जुड़ने का अवसर था। अयोध्या की जनता का पहले से ही उनके साथ लगाव था। अयोध्या से लंका तक की जनता से जुड़ना बाकी था। केवल पिता के नाम पर या उत्तराधिकार के रूप में सिंहासन पाना बहुत अर्थपूर्ण नहीं होता। सार्थक राजा कैसे बनते हैं, यह दिखाने के लिए वे वन की ओर चल पड़े। राज्य की आसक्ति का परित्याग भरत ने भी किया। वे ही कार्यकारी उत्तराधिकारी थे। महावीर से बुद्ध और गाँधी से जयप्रकाश तक भारत के इतिहास में अनासक्त राजनीतिज्ञों के अनेक उदाहरण मिलते है। राम जनता से जुड़े — निषाद को छाती से लगाया, भीलनी के जुठे बेर खाये। जनता से जुड़ने के लिए जात-पात की सीमाओं को तोड़ना आवश्यक था। वानर उन दिनों की एक वनवासी जाति थी। किष्किन्धा में राजपथों के किनारे वे लोग ऊँची ऊँची इमारतें बनाकर उनमें रहते थे। उनके सेनापति चाँदी के आसनों पर सोते थे। स्त्रियाँ वीणावादन करती थीं। सब मधुपान करते थे। राम ने उनका संगठन किया। अत्याचारी रावण के खिलाफ उन्हें संघर्ष के संकल्प में जोड़ा। संघर्ष केवल सीता के लिए ही नहीं हुआ था। सीताहरण का प्रकरण तो श्रीराम का व्यक्तिगत मामला था, परन्तु इससे राम को व्यापक सहानुभूति मिली। सीताहरण के पूर्व ही रावण के अत्याचारों से हाहाकार मचा हुआ था। इसी सन्दर्भ में श्रीराम का अवतरण हुआ था। सीताहरण के बाद अब रावण के दुष्कर्मों का घड़ा पूरी तरह भर गया। रावण के अत्याचारों से मुक्ति की कामना सर्वत्र फैली हुई थी। राम ने जनता से जुड़कर इस बिखराव को एक संघर्ष का रूप दिया। रावण को मारने के बाद उन्होंने राजसत्ता सँभाली। वास्तव में वह जनसत्ता थी,

एक महान क्रान्ति की परिणति थी। श्रीराम की मानसिकता को केवल वे स्वयं ही समझ सकते थे। इसलिए इस क्रांति के बाद उन्होंने सत्ता का विसर्जन नहीं किया। अपने मनोनुकूल ढाँचे में राज्यसत्ता को ढालने में तत्पर हो गये। तभी रामराज्य स्थापित हो पाया। यदि वे राजसत्ता न सँभालते तो रामराज्य कभी अस्तित्व में ही नहीं आता। लोकशक्ति से जुड़कर अनासक्तिपूर्वक राजशक्ति के माध्यम से जनसेवा — श्रीराम द्वारा दिखाये गये इस आदर्श का अनुसरण करके हमारे राजनेतागण देश और समाज को उन्नति के शिखर की ओर ले जा सकते हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा — सच्चे ब्राह्मणत्व की उपलब्धि ही हमारा राष्ट्रीय आदर्श है। सभी को ब्राह्मणत्व के गुणों में उन्नीत करना होगा। सबको केवल जन्म से नहीं, बल्कि अपने कर्मों से ब्राह्मण बनाना होगा। ब्राह्मण जाति में भी अनेक विपथगामियों हुए हैं। तभी तो श्रीराम ने एक ओर जहाँ एक तपस्वी ब्राह्मणी की रक्षा की तथा उन्हें सम्मानित किया, वहीं दूसरी ओर ब्राह्मण वंश में जन्में रावण का सवंश विनाश किया। आज के ब्राह्मणों को रामचरित के आलोक में आत्मविश्लेषण करना होगा।

युद्ध समाप्त हो गया था। एक सजी हुई पालकी में सीताजी को श्रीराम के सम्मुख लाने की व्यवस्था हो रही थी। वानरों में असन्तोष भड़क उठा। जिन जगन्माता के लिए इतना बड़ा युद्ध हुआ, क्या हमें भी उनका दर्शन प्राप्त नहीं होगा? विभीषण विचलित हो गये। एक ओर सम्मानजनक ढंग से सीताजी को श्रीराम के पास ले जाने का प्रश्न था और दूसरी ओर था वानरों का असन्तोष। विवादित अहल्या को माँ कहकर प्रणाम करनेवाले श्रीराम स्वयं ही समाधान देते हैं — "अपना चरित्र तथा पति द्वारा प्रदत्त सम्मान ही नारी का वास्तविक अवगुंठन है। सीताजी को इस तरह लाया जाय कि सभी उनका दर्शन कर सकें।"

राम किस शताब्दी में हुए थे, पता नहीं। पर इतिहास के उस सन्धिकाल में, जब राम उत्पन्न हुए निश्चय ही आज के प्रगतिशील राष्ट्रों का कहीं पता न था। यह देखकर बड़ा सन्तोष होता है कि उस काल में भी हमारे आराध्यदेव ने स्वयं ही नारियों के प्रति आचरण की दिशा में जिन मर्यादाओं की स्थापना की, उनसे समूची पृथ्वी का गौरव बढ़ा। भोग की अनन्त सम्भावनाओं के रहते भी श्रीराम ही एक ऐसे थे, जो पिता के जीवन की त्रुटियों का वर्जन करते हुए आजीवन एक पत्निव्रती बने रहे। श्रीराम के आदर्शों का अनुगमन करने के फलस्वरूप ही भारत में सदैव ही नारियों को सम्मानित किया जाता रहा है। हर युग में यहाँ की माताएँ

मानवता के संरक्षक महापुरुषों को जन्म देती रही हैं।

परन्तु रामराज्य में भी एक कोमल-सा धब्बा उभरता है और वह है सीताजी का वनवास। श्रीराम ने निःसन्देह रामराज्य स्थापित किया, परन्तु सीताजी भी तो रामराज्य की ही एक नागरिक थीं। श्रीराम ने सबकी सुनी — चाहे वह धोबी रहा हो या कोई अन्य पुरवासी, परन्तु सीताजी को सुनना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा। क्यों? इसलिए की राम और सीता उसी प्रकार अभेद हैं, जैसे अग्नि और उसकी दाहकता या सर्प और उसकी तिर्यक गति। अतः सीताजी का वनवास मानो उनका स्वयं ही सजा स्वीकार करना था। एक बार उन्होंने पिता के कहने पर वनगमन किया। इस बार सीताजी को वन भेजने का आदेश देकर मानो उन्होंने स्वयं के मन को अरण्य में निर्वासित कर लिया। वनवास का आदेश देते हुए राम कैसे विकल दिखाई देते हैं, इसका मर्मस्पर्शी वर्णन वाल्मीकि ने किया है। लक्ष्मण को सीता के वनवास का आदेश देने के बाद वे तत्काल अपने द्वार बन्द कर लेते हैं। लक्ष्मण को कुछ बोलने का अवसर ही नहीं देते। यह आकुलता क्यों है? रावण जैसे पराक्रमी को पराभूत करनेवाला व्यक्तित्व क्यों इस प्रकार मिथ्या लांछन के आगे झुक गया? श्रीरामकृष्ण ने कभी कहा था, "उनकी लीलाओं को भला कोई क्या समझे? राम स्वयं ही परब्रह्म और सीता साक्षात जगन्माता है, तथापि दोनों वन वन भटक रहे हैं।"

यही ठीक है रहस्यावृत दुर्बोधता की जो एक अपनी मर्यादा हो सकती है, श्रीराम ने इस प्रकरण में उसी दुर्बोध रहस्य की मर्यादा बनाये रखी, परन्तु सर्वसाधारण की दृष्टि में वे यहाँ अमर्यादित-से हो गये लगते हैं। पर नहीं। मानवीय दृष्टि से भी वे उत्तीर्ण हो जाते हैं। भूल न करें तो मानव कैसा? सीताजी को वनवास देनेवाले राम यहाँ नररूप में लीला कर रहे हैं। नररूप की मर्यादाओं की रक्षा के लिए भी उन्हें एक भूल करने की आवश्यकता थी। इसलिए शायद उन्होंने सीताजी का पक्ष सुनना आवश्यक नहीं समझा — अपनी ही संवेदनाओं की धड़कनें सुनने से उन्होंने इन्कार कर दिया। एक और पक्ष। अकिंचन रत्नाकर को राम-नाम ने वाल्मिकी रूपी कांचन बना दिया था। परन्तु प्रभु की जीवन्त कृपा उन्हें और भी मिलनी थी। सीता-वनवास के माध्यम से वह कृपा भी उन्हें जगन्माता की साक्षात सेवा के द्वारा प्राप्त हो गयी। भगवान कब क्या चाहते हैं, यह भला कौन जान सकता है? उनके अखण्ड-मण्डलाकार-व्यापी लीलामृत के कणमात्र के स्पर्श से यदि किसी का जीवन धन्य हो जाता है, तो वही यथेष्ट है।

❑

मनुस्मृति : एक परिचय

स्वामी योगात्मानन्द

(सनातन वैदिक परम्परा में दो प्रकार के शास्त्रग्रन्थ हैं — श्रुति तथा स्मृति। श्रुति का तात्पर्य वेदों से है, जिनमें ऋषियों द्वारा आविष्कृत शाश्वत सत्यों का संकलन है और प्रत्येक काल की आवश्यकता तथा परिपाटी के अनुसार स्मृतियों की रचना हुई है, जिनमें समकालीन समाज में उन परम सत्यों की उपलब्धि हेतु व्यक्तिगत तथा सामाजिक आचार-व्यवहारों का निर्देश है। भले ही स्मृतियों के कुछ अंश आधुनिक समाज के लिए उपयोगी न हो, परन्तु उनमें अनेक बहुमूल्य रत्न संयोजित हैं, और आधुनिक युग के लिए उपयोगी एक स्मृति के निर्माण हेतु भी उनका गहराई से अध्ययन आवश्यक है। आशा है प्रस्तुत लेख से भारतीय परम्परा के इस महान ग्रन्थ के विषय में पाठकों को एक सन्तुलित जानकारी प्राप्त हो सकेगी। मराठी से इसके हिन्दी भाषान्तरकार हैं नागपुर के श्री वा. मो. लोहित — सं०)

प्रस्तावना

विगत हजारों वर्षों से करोड़ों भारतवासियों की श्रद्धा का केन्द्र रहा है यह अद्भुत ग्रन्थ। कर्तव्य तथा अकर्तव्य का निर्धारण करने की दृष्टि से हिन्दू समाज में वेद तथा भगवद्गीता के पश्चात् मनुस्मृति को ही आधारभूत माना गया है। इतने सुदीर्घ काल तक कोटि कोटि लोग खान-पान, शयन-जागरण, अध्ययन-अध्यापन, उपनयन-विवाह आदि समस्त दैनन्दिन क्रियाएँ इसी ग्रन्थ के आधार पर करते आए हैं — यही एक तथ्य इस ग्रन्थ का असाधारणता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। ऐसे कितने ग्रन्थ हैं, जो अपने काल में काफी हलचल मचाकर और महान लोगों से जय-जयकार पाने के बाद भी इस सौभाग्य के अधिकारी हो सके? आज तक ऐसे कितने ग्रन्थ हुए, जिनमें काल के निर्मम आघात को सहन करने की दृढता थी? हम देखते हैं कि वर्षा ऋतु के दौरान बहनेवाला जल संचित होकर कहीं कहीं एक शीघ्र सूख जानेवाले क्षणस्थायी जलाशय का रूप ले लेता है, वैसे ही प्रतिवर्ष हजारों पुस्तकें प्रकाशित होकर शीघ्र ही रद्दी के ढेर में परिणत हो जाती हैं। बाद में उनका कोई नाम तक नहीं लेता। परन्तु इस तथ्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि कि मनुस्मृति जैसे ग्रन्थ गंगा-यमुना के शाश्वत प्रवाह के समान अपनी विचारधारा को चिरकाल तक प्रवाहित करते रहते हैं।

स्पष्ट है कि विशेष उपयोगिता के कारण ही मनुस्मृति को ऐसा कालजयी सम्मान प्राप्त हुआ है। निरुपयोगी, बेकार की वस्तु को भला कौन पूछता है?

आज के कई विचारकों ने मनुस्मृति को अपनी कड़ी आलोचना का लक्ष्य बनाया है। हम मानते हैं कि ऐसी समालोचना प्रायः प्रामाणिकता तथा सद्हेतु द्वारा ही प्रेरित होगी, परन्तु ऐसी प्रामाणिक और सद्हेतु से प्रेरित इन चर्चाओं में भी मनुस्मृति के यथार्थपरक बुनियादी अध्ययन का अभाव ही परिलक्षित होता है। सद्हेतु के बावजूद गलत जानकारियों पर आधारित होने के कारण ये आलोचनाएँ चोर को छोड़कर संन्यासी को ही सूली देनेवाले दृष्टान्त को ही चरितार्थ करती हैं। इस प्रकार की बहुत-सी टिप्पणियाँ तो राजनैतिक स्वार्थों को ध्यान में रखकर की गयी है अथवा विद्वेषपूर्ण अहंकार से प्रेरित हैं, जिनका प्रविवाद समय का व्यर्थ अपव्यय ही होगा; निद्रा का ढोंग करनेवाले व्यक्ति को जगाने में भला कौन समर्थ है? प्रस्तुत लेख का उद्देश्य है 'मनुस्मृति' के साथ आपका थोड़ा-सा परिचय करा देना और उसमें प्रतिपादित आज के लिए भी उपयोगी कुछ सिद्धान्तों की रूपरेखा प्रस्तुत करना।

मनुस्मृति का प्रयोजन और उसकी मर्यादाएँ

सनातन हिन्दू धर्म में तीन प्रकार के शास्त्र-ग्रन्थों को प्रमाण माना गया है। उनमें से प्रथम है — 'श्रुति' अथवा वेद। उसके बाद स्मृतियों का स्थान आता है, जिनमें प्रधानतः मनु आदि द्वारा रचित अट्ठाईस स्मृति-ग्रन्थों का समावेश होता है। और शास्त्रों के तीसरे प्रकार के अन्तर्गत पुराण आते हैं।

वेदों में ब्रह्मज्ञानी, पूर्णकाम ऋषियों के स्वतःस्फूर्त उक्तियों का संकलन है। अपने सीमित व्यक्तित्व का उस सर्वव्यापी, अनंत, एकमेवाद्वितीय, अखमण्ड, एकरस परब्रह्म में विलय कर और उससे एकात्म हो जाने के बाद प्राप्त होनेवाले अहंशून्य प्रज्ञा से प्रकट होने के कारण ये उक्तियाँ साक्षात् परब्रह्म का ही वाणी रूप में आविष्कृत तथा अपौरुषेय मानी गयी हैं। अपौरुषेय का अर्थ है — जो किसी विशिष्ट व्यक्ति की बुद्धि से न उपजी हो। व्यक्ति चाहे कितना ही महान तथा बुद्धिमान क्यों न हो, किन्तु उसकी बुद्धि उसके व्यक्तित्व के द्वारा सीमित होती है और इस कारण ऐसी बुद्धि द्वारा उत्थित हुआ ज्ञान कदापि सार्वभौमिक अथवा सार्वकालिक नहीं हो सकता। परन्तु अपौरुषेय होने के कारण वेदों के द्वारा प्रकट हुआ ज्ञान सार्वभौनिक तथा सार्वकालिक माना गया है। वेदों की प्रामाणिकता हिन्दू धर्म में सर्वोपरि है। अपने स्वयं के परब्रह्म स्वरूप को पहचानकर क्रमशः मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए मनुष्य किस प्रकार से अपने जीवन का गठन तथा परिचालन करे, इस विषय में केवल वेद ही पूर्ण अधिकार के साथ हिन्दुओं का मार्गदर्शन कर

सकते हैं। वेदों पर प्रश्नचिह्न लगाने का अधिकार किसी को भी नहीं है। तथापि इस सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द ने स्पष्ट रूप से कहा है कि वेदों का जो केवल कर्मकाण्डात्मक अंश है, उसे (देश-काल के अनुसार परिवर्तन होते रहने के कारण) यह अधिकार नहीं है, परन्तु उसके उपनिषद् रूपी ज्ञानपरक अंशों को ही यह सर्वोच्च अधिकार प्राप्त है।

परन्तु वेदों के विभिन्न स्थलों पर अत्यन्त गूढ, दुर्बोध तथा सांकेतिक भाषा में दिये हुए आत्मज्ञान के उपदेशों को समझ लेना सर्वसाधारण के लिए सम्भव नहीं है। सामान्य जन यह जानना चाहते हैं कि वेद के आदेशानुसार विशेष विशेष परिस्थितियों में वे कैसे आचरण करें और कैसे आचरणों से दूर रहें। जटिल तत्वज्ञान समझने की न तो उन्हें अभिलाषा रहती है और न ही बौद्धिक क्षमता ही, तथापि वेदोक्त तत्त्वज्ञान पर आधारित उन्हें एक ऐसे धर्मशास्त्र की आवश्यकता होती है, जिसके अनुसार वे अपने विविधतापूर्ण दैनन्दिन व्यवहार को चलाकर एक अच्छा धार्मिक जीवन व्यतीत कर सकें। और बहुसंख्य जनसमाज का मार्गदर्शन करने हेतु वेदों पर आधारित आचरणीय नियमों का विस्तारपूर्वक तथा ब्योरेवार विवरण जिन ग्रन्थों में उपलब्ध कराया जाता है, वे 'स्मृति' के नाम से जाने जाते हैं। मानो मनुष्य जीवन की विभिन्न परिस्थितियों को सामने रखकर उसके साथ समग्रतापूर्वक जुड़े उचित वेदोपदेश का स्मरण कराते हुए इनमें ऋषि ने उस विशिष्ट परिस्थिति में किये जानेवाले उपयुक्त आचरण का निर्देश दिया है और सम्भवतः इसी कारण इन ग्रन्थों को 'स्मृति' की संज्ञा दी गयी है।

शास्त्रग्रन्थों के तीसरे विभाग के अन्तर्गत पुराणों की गणना होती है। इनमें अनेक प्रकार की कथाओं तथा इतिहास का ऐसे ढंग से समावेश किया गया है, जिनकी सहायता से सामान्य जन वेदों के (विशेषकर वेदान्त के) तत्त्वों का ज्ञान सहज तथा रोचक ढंग से प्राप्त कर सकते हैं।

इससे स्मृतियों के विषय में मोटे तौर पर दो निष्कर्ष निकलते हैं –

(१) स्मृतियों के निर्णय देश-काल-परिस्थिति के अनुरूप होने के कारण वे सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक नहीं हो सकते है।

(२) वेदों का आधार लेकर ही स्मृति अपने निर्णय देती है, इस कारण उसके निर्णय वेद-विरोधी कदापि नहीं हो सकते। तथापि यदि कभी वेद और स्मृति के बीच विरोध दृष्टिगोचर भी हुआ, तो ऐसी स्थिति में वेदों को ही प्रमाण मानते हुए

स्मृति को छोड़ देना चाहिए।

स्वामी विवेकानन्द करते हैं — "स्मृतियाँ तो प्रायः स्थानीय परिस्थिति और अवस्थाभेद के अनुशासन बतलाती और समयानुसार बदलती जाती हैं। सदैव स्मरण रखना होगा कि सामाजिक प्रथाओं में किंचित् परिवर्तन आ जाने से हम अपना धर्म नहीं खो बैठेंगे। ऐसा कदापि नहीं है। याद रखो, ये आचार-प्रथाएँ चिरकाल से ही बदलती आई हैं। इसी भारत में कभी ऐसा भी समय था, जब कोई ब्राह्मण बिना गोमांस खाए ब्राह्मण नहीं रह पाता था। ...बाद में धीरे धीरे लोगों ने समझा कि हम कृषिजीवी जाति हैं, अतएव अच्छे बैलों का मारना हमारी जाति के ध्वंस का कारण है। इसलिए इस हत्या का निषेध कर दिया गया और गोवध के विरूद्ध तीव्र आन्दोलन उठाया गया। पहले ऐसे भी आचार प्रचलित थे, जिन्हें आज हम वीभत्स मानते हैं। ...वेद चिरन्तन सत्य होने के कारण सभी युगों में समभाव से विद्यमान रहते हैं, किन्तु स्मृतियों की प्रधानता युगपरिवर्तन के साथ ही जाती रहती है। समय ज्यों-ज्यों व्यतीत होता जाएगा, अनेकानेक का प्रामाण्य लुप्त हो जाएगा और ऋषियों का आविर्भाव होगा। वे समाज को अच्छे पथों पर प्रवर्तित और निर्दिष्ट करेंगे।" (विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ५, पृ० ७०-७१)

समस्त स्मृतियों के सम्बन्ध में निकाले गये उपरोक्त निष्कर्ष निश्चित रूप से मनुस्मृति के लिए भी प्रयोज्य हैं।

महाभारत के पूर्व की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर बनाये गये सभी नियम-कानूनों का क्या आज भी पालन हो — ऐसा कहना; अथवा वर्तमान परिस्थितियों में दोषपूर्ण प्रतीत होने के कारण उन्हें उस काल के लिए भी गलत ठहराना — इन दोनों ही अवस्थाओं में हम स्मृतियों में निरूपित नियमों का देश-काल-सापेक्षत्व नजरंदाज कर जाते हैं। उपरोक्त दोनों ही स्थितियाँ अनुचित हैं।

दूसरी तरफ वेदों की — और विशेषकर उपनिषदों की — उपेक्षा कर मनुस्मृति को उनसे अधिक श्रेष्ठता प्रदान करना भी मनुस्मृति का घोर अनादर ही होगा। उपनिषदों के लंघन का अधिकार मनुस्मृति को बिलकुल भी नहीं है। उपनिषदों द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर से संचरण करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रसंगों के अनुरूप मात्र सूचना तथा सलाह देना ही उसका कार्य है। जहाँ-जहाँ उपनिषद और मनुस्मृति — इन दोनों के बीच विरोध दिखे, वहाँ वहाँ उपनिषदों को ही प्रमाण मानकर चलने से मनुस्मृति के गौरव में कोई ह्रास नहीं आता।

विगत चार सहस्त्र वर्षों के दौरान मानव के आर्थिक, समाजिक तथा राजनैतिक

परिस्थितियों में आमूल-चूल परिवर्तन आया है। इन क्षेत्रों में अनेक पुराने विचार लुप्त हो गये हैं और उनका स्थान नये विचारों ने ले लिया है। परन्तु मानव-जीवन के कुछ ऐसे भी क्षेत्र हैं, जिनमें इतने लम्बे अरसे में भी कोई परिवर्तन नहीं आया। ये क्षेत्र मुख्यतः उसके आन्तरिक विश्वासों से जुड़े हैं। आज के समान ही उन दिनों भी मनुष्य धन, सत्ता तथा काम का लोभी हुआ करता था, उन दिनों भी मनुष्य में विभिन्न गुण दिखायी देते थे। सत्प्रवृत्तियों तथा दुष्प्रवृत्तियों में जैसा संघर्ष आज चल रहा है, वैसा ही पूर्वकाल में भी चलता था। जिस प्रकार उस काल में भगवत्प्राप्ति ही मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य था, उसी प्रकार आज भी है। इसलिए समस्त क्षेत्रों के लिए मनुस्मृति के विधि-निषेध जैसे उन दिनों उपयोगी थे, वैसे ही आज भी हैं। पाश्चात्य पण्डितों से उनके अपने देश के सामाजिक अनुभवों से रंगे हुए चश्मे उधार न लेकर, पूर्वग्रह से मुक्त दृष्टि की सहायता से अपने शास्त्रों की रचना के नियम को ध्यान में रखकर यदि समझदारी के साथ अध्ययन करें, तो हम देखेंगे कि मनुष्य-जीवन के उपरोक्त सारे अपरिवर्तनीय क्षेत्रों से संबंधित नियम बनाते समय स्मृतिकारों ने अद्भुत सर्वसमावेशता, अलौकिक बुद्धिमत्ता, विलक्षण गुणग्राहकता तथा उच्चकोटि की उदारता दर्शायी है। यह भी दिख पड़ता है कि उनमें बुरे-से-बुरे मनुष्य को क्रमशः उन्नत कर जीवन के परम लक्ष्य तक ले जानेवाला मार्ग दर्शाया गया है।

मनुस्मृति का लक्ष्य

वेदादि सभी धर्मशास्त्रों का लक्ष्य है मनुष्य को उसके यथार्थ — सच्चिदानन्द स्वरूप की प्राप्ति कराना। पुरातन काल के राम, कृष्ण, बुद्ध शंकराचार्य इनसे लेकर आधुनिक काल के श्रीरामकृष्ण तक सभी अवतारी पुरुष, सन्त तथा सभी धर्मग्रन्थ मनुष्य-जीवन के इस परम उद्देश्य के विषय में सहमत है। उन लोगों ने एक इस प्रकार के समाज को गढ़ने का प्रयास किया, जिसमें मनुष्य को अपने इस लक्ष्य के प्रति अग्रसर होने में सहायता मिले। मनुस्मृति ने भी इसी लक्ष्य को अपने सामने रखा है और एकमात्र इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर हर व्यक्ति के लिए उसकी मनोवृत्ति, व्यवसाय, तथा शारीरिक क्षमता तथा आयु के अनुरूप ऐसे नियम दिए हैं, जिनका आश्रय लेकर मनुष्य अपनी वर्तमान अवस्था से इस परम लक्ष्य की ओर बढ़ने में सहायता प्राप्त कर सकेगा।

मनुस्मृति (और कभी कभी वेदों पर भी) जो आक्षेप लगाये जाते हैं, उनके मूल उद्देश्य को नजरंदाज कर देना ही इसका प्रमुख कारण है। किसी भी कार्य का मूल्यांकन करते समय सर्वप्रथम उसके उद्देश्य पर ही ध्यान देना पड़ता है। किसी

वैज्ञानिक सिद्धान्त पर लिखे गये निबन्ध की जाँच साहित्यिक कसौटी पर करना भूल है, क्योंकि साहित्य-रचना उस निबन्ध का उद्देश्य ही नहीं है। इसी तरह मनुस्मृति को यदि ठीक से समझना हो, तो सर्वप्रथम उसके भगवत्प्राप्ति रूपी उद्देश्य को ध्यान में रखना होगा और उसकी परख उसी से सम्बन्धित मानदण्डों से करनी होगी। अपना प्रयोजन बताते हुए मनुस्मृति कहती है —

इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम् ।
इदं यशस्य आयुष्यमिदं निश्रेयसः परम् । १/१०६

— यह ग्रन्थ मंगलकारियों में सर्वश्रेष्ठ, बुद्धि का विकास करनेवाला, कीर्ति-आयु और अन्ततः मोक्ष प्रदान करानेवाला है।

मनुस्मृति में प्रतिपादित समाजिक रचना भोगप्रधान नहीं, अपितु मोक्षप्रधान है — इस बात को यदि ध्यान में रखा जाय और साथ ही अत्यन्त युक्तिसंगत तथा अनुभवसिद्ध पुनर्जन्म के सिद्धान्त को समझ लिया जाय, तो इस ग्रन्थ में दृष्टिगोचर होनेवाली सुसंगति और तलस्पर्शी सूक्ष्म विवेचन को देखकर उसके रचयिता की तीक्ष्ण मेधा तथा महान हृदयशीलता के समक्ष हमें नतमस्तक रह जाना पड़ता है।

मनुस्मृति की वर्णव्यस्था

ऋग्वेद के समान ही मनुम्मृति में भी परब्रह्म को पुरुष मानकर जो रूपक प्रस्तुत किया गया है, उसके अनुसार शरीर के विभिन्न अंगों से भिन्न भिन्न वर्णों का उद्भव हुआ है। इस प्रकार बताया गया है कि परब्रह्मरूपी पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जाँघ से वैश्य और चरणों से शूद्र की उत्पत्ति हुई। (१/३१, १/८७)

पिछले सौ या सवा-सौ वर्षों से, और आज तो और भी जोर-शोर के साथ ऐसी बातें उठायी जा रही हैं कि वेद और मनुस्मृति में प्राप्त होनेवाले ये वचन शूद्रों का घोर अपमान करते हैं; इनसे ब्राह्मणों की अति-दर्पयुक्त अहंकार तथा शूद्रों के प्रति उनके मन की कुत्सित भावना ही प्रकट होती है और इस कारण ऐसे ग्रन्थों तथा उक्तियों का सर्वत्र धिक्कार होना चाहिए; उन्हें जला देना चाहिए और उन पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए। इन मतों को प्रस्तुत करनेवालों में अनेक विशाल हृदयी, दलित-शोषित लोगों के प्रति वास्तविक आत्मीयता रखनेवाले श्रेष्ठ विद्वान लोग भी हैं और इसी कारण इन मतों के पीछे जो प्रामाणिकता और सद्हेतु है इसे मान्य करने में कोई आपत्ति नहीं। और साथ ही इस ऐतिहासिक तथ्य से भी आँखें मूँदने का प्रयास निरर्थक है कि स्वयं को ब्राह्मण घोषित करने के बावजूद वास्तविक जीवन में वेद तथा मनुस्मृति में वर्णित ब्राह्मणत्व से बहुत दूर रहनेवाले लोगों ने

अपनी वंश-परम्परा से प्राप्त विशेषाधिकारों को बनाये रखने के उद्देश्य से इस तरह के वाक्यों का अनुचित लाभ उठाकर, निचले वर्णों के लोगों के उन्नति के मार्ग अवरुद्ध करके उनकी स्थिति गुलामों जैसी बना डाली है।

परन्तु इस रूपक का अर्थ क्या सचमुच ही इतना गर्हित है? निन्दकों द्वारा उठाए गए इस शोर-गुल से विचलित हुए बिना शान्त चित्त से विचार किया जाय, तो (और यह भी आजकल कम मुश्किल नहीं है) हम देखते हैं कि इसमें निन्दनीय जैसा कुछ भी नहीं है, बल्कि इस रूपक के माध्यम से मानव समाज के सुचारु रूप से परिचालन के उद्देश्य से उसके घटकों के कर्तव्यों का जिस प्रकार विभाजन किया गया है, उसमें जो अद्‌भुत सुसंगति, सूक्ष्म विचार और सुन्दरता परिलक्षित होती है, वह बेमिशाल है। इस रूपक के द्वारा सूचित होनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण की विशेषताओं तथा पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करें, तो निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं —

(१) सारे वर्ण उस परमपुरुष परमात्मा के ही अंगविशेष हैं। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र — सभी परमात्मा से ही परिपूर्ण हैं।

(२) जिस प्रकार एक ही शरीर के विभिन्न अंगों के बीच एकत्व का सम्बन्ध होता है, मस्तक, बाहु, जंघा तथा पाँव — सभी एक-दूसरे के साथ घनिष्ठता से जुड़े हुए हैं और उनके कार्य भी पारस्परिक सहायता से ही चलते हैं, ठीक उसी प्रकार इन चार वर्णों को भी एक दूसरे से पूर्णतः सहयोग तथा घनिष्ठता का भाव रखकर चलना चाहिए।

(३) प्रत्येक अंग के कार्यक्षेत्र स्वतंत्र तो होते हैं, परन्तु बाकी अंगों को तथा प्रधान रूप से जिस व्यक्ति के शरीर के वे अंग हैं, उसके उद्देश्यों को पूरा करने में समान रूप से सहायक होते हैं। उनमें एक ऊँचा और दूसरा नीचा, ऐसा कोई भेद नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार हर वर्ण का कार्य स्वतंत्र होकर भी अन्य वर्णों तथा पूरे समाज के लिए हितकर ही होता है। इस दृष्टिकोण से वर्णों में से एक को श्रेष्ठ तथा दूसरे को निकृष्ट नहीं कहा जा सकता।

(४) शरीर का एक अंग यदि दूसरे अंग का कार्य करने जाए तो वह ठीक ढंग से हो पाना तो दूर, अपना स्वयं का कार्य भी सही ढंग से कर न पाएगा। मस्तक से चलने का तथा पैरों से विचार कराने का काम कराना असम्भव है। दुराग्रहपूर्वक यदि कोई ऐसा करने का प्रयास करे तो उसके पैर तथा मस्तक दोनों ही बेकार हो जाने की सम्भावना है।

प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न भिन्न प्रवृत्तियाँ, क्षमताएँ तथा गुण-अवगुण रहते हैं। सभी व्यक्ति परमात्म स्वरूप हैं और इस दृष्टि से वे एक समान तथा श्रेष्ठ हैं। तथापि उनके व्यक्त रूपों में प्रदर्शित होनेवाली विविधता तथा उससे उद्भूत व्यावहारिक परिणामों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कुछ व्यक्ति स्वभाव से ही सत्त्वगुणी — स्थिरता, शान्ति तथा ज्ञान की लालसा रखनेवाले, तो कुछ अन्य कर्म में प्रवृत्ति रखनेवाले — रजोगुणी और कुछ दूसरे तमोगुणी अर्थात् जड़ तथा आलसी दिख पड़ते हैं। प्रत्येक व्यक्ति में ये तीन प्रवृत्तियाँ कमो-बेश परिमाण में विद्यमान रहती हैं, जिनके आधार पर उसके स्वाभाविक कर्म निश्चित होते हैं और इस प्रकार उनकी प्रवृत्तियाँ (अथवा गुण) तथा उनके द्वारा होने वाले कर्मों के आधार पर उनका वर्ण तय होता है। इस प्रकार शरीर के अंगों के समान यदि हम अपने स्वाभाविक कर्म करते रहें, तो हम स्वयं तो प्रगति की ओर बढ़ेंगे ही, साथ ही पूरे समाज को भी उन्नत करने में सहायक होंगे।

जिन व्यक्तियों में सत्त्वगुण प्रबल होता है, वे स्वभाव से ही शान्त, धीर-स्थिर तथा ज्ञानपिपासु होते हैं। उन्हें ब्राह्मण कहा जाता है। ज्ञान का प्राबल्य रखनेवाले इन लोगों को ऋग्वेद आदि ग्रन्थों के आधार पर, मनुस्मृति ने इन्हें जो परमपुरुष के शीर्ष से उपमा दी है, कौन समझदार व्यक्ति कहेगा कि यह समीचीन नहीं है?

अध्ययन, अध्यापन, पूजा करना और कराना, दान देना तथा लेना — इन्हीं को ब्राह्मणों के स्वभावगत कर्म बताते हुए (१/८८,१०१) मनुस्मृति कहती है कि ब्राह्मणों को निर्धन होना आवश्यक है और उन्हें केवल उतना ही धनसंचय करना चाहिए, जितना कि शरीर धारण के लिए आवश्यक हो। जन्म अथवा किसी बाह्य लक्षण के आधार पर नहीं बल्कि आचरण के आधार पर ही किसी भी मनुष्य के धर्म की परख होती है। अतः मनुस्मृति ब्राह्मण को सावधान करती है कि उसे अपना आचरण अपने उच्च आदर्श के अनुरूप बनाए रखना चाहिए —

आचाराद्विच्युतो विप्रः न वेदफलमश्नुते। (१-१०६)

— आचार से भ्रष्ट हुआ ब्राह्मण वेदों में कथित ब्राह्मणत्व के फल प्राप्त नहीं करता (वह केवल नाम का ही ब्राह्मण रह जाता है)।

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ।

— लकड़ी का हाथी अथवा चमड़े का हिरन ये जैसे केवल नाम के ही प्राणी होते हैं, वैसे ही वेदों का अध्ययन न किया हुआ ब्राह्मण भी नाम मात्र का ही ब्राह्मण

होता है। इस सत्त्वप्रधानता के कारण ही ब्राह्मण सबके लिए पूज्य होता है।

युगाचार्य विवेकानन्द कहते हैं — "ब्राह्मणत्व ही मनुष्य का चरम आदर्श है। इस ब्राह्मण का, इस ब्रह्मज्ञ पुरुष का, इस आदर्श और सिद्ध पुरुष का रहना परम आवश्यक है। ... अतः यह ब्राह्मण जाति का कर्तव्य है कि भारत की दूसरी जातियों के उद्धार की चेष्टा करे। यदि वह ऐसा करती है और जब तक ऐसा करती है, तभी तक वह ब्राह्मण है, और अगर वह धन के चक्कर में पड़ी रहती है, तो वह ब्राह्मण नहीं है। इधर तुम्हें भी उचित है कि यथार्थ ब्राह्मणों की ही सहायता करो। यथार्थ ब्राह्मण वे ही हैं जो सांसारिक कोई कर्म नहीं करते। ... मनु कहते हैं, 'ब्राह्मणों को जो इतना सम्मान और विशेष अधिकार दिए जाते हैं, इसका कारण यह है कि उनके पास धर्म का भण्डार है। उन्हें वह भण्डार खोलकर उसके रत्न संसार में बाँट देना चाहिए। यह सच है कि ब्राह्मणों ने ही पहले भारत की सब जातियों में धर्म का प्रचार किया, और उन्होंने ही सबसे पहले, उस समय जबकि दूसरी जातियों में त्याग के भाव का उन्मेष ही नहीं हुआ था, जीवन के सर्वोच्च त्याग के लिए सब कुछ छोड़ा। यह ब्राह्मणों का दोष नहीं कि वे उन्नति के मार्ग पर अन्य जातियों से आगे बढ़े। ... परन्तु दूसरों की अपेक्षा अधिक अग्रसर होना तथा सुविधाएँ प्राप्त करना एक बात है और दुरुपयोग के लिए उन्हें बनाए रखना दूसरी बात। शक्ति जब कभी बुरे उद्देश्य के हेतु लगायी जाती है तो वह आसुरी हो जाती है, उसका उपयोग सदुद्देश्य के लिए ही होना चाहिए। अतः युगों की यह संचित शिक्षा तथा संस्कार, जिनके ब्राह्मण रक्षक होते आए हैं, अब साधारण जनता को देना पड़ेगा। ...

"ब्राह्मणेत्तर जातियों से मैं कहता हूँ — ठहरो, जल्दी मत करो, ब्राह्मणों से लड़ने का मौका मिलते ही उसका उपयोग न करो, क्योंकि मैं पहले दिखा चुका हूँ कि तुम अपने ही दोष से कष्ट पा रहे हो। तुम्हें आध्यात्मिकता का उपार्जन करने तथा संस्कृत सीखने से किसने मना किया था? इतने दिनों तक तुम क्या करते रहे? क्यों तुम इतने दिनों तक उदासीन रहे? और दूसरों ने तुमसे बढ़कर मस्तिष्क, वीरता, साहस और क्रियाशक्ति का परिचय दिया, इस पर अब चिढ़ क्यों रहे हो? समाचार पत्रों में इन सब व्यर्थ वाद-विवादों और झगड़ों में शक्ति क्षय न करके, अपने ही घरों में इस तरह लड़ते-झगड़ते न रहकर — जो कि पाप है — ब्राह्मणों के समान ही संस्कार प्राप्त करने में सारी शक्ति लगा दो। बस तभी तुम्हारा उद्देश्य सिद्ध होगा.....।" (विवेकानन्द साहित्य, पंचम खण्ड, पृ. १८६-१९१)

ब्राह्मण की यह सत्त्व-प्रधानता टिकी रहे और वह भोग के प्राबल्य से कहीं मलिन न हो जाय, इस कारण मनुस्मृति ने ब्राह्मणों को बहुत से कठोर बन्धनों में जकड़ दिया है। यथेच्छाचार तथा भोगलालसा की प्रवृत्तियों पर ब्राह्मण को स्वाभाविक रूप से ही अंकुश लगाना चाहिए, नहीं तो उसका ब्राह्मणत्व ही नष्ट हो जाएगा। इसी कारण उनके खान-पान, निवास, विवाह तथा अन्यान्य आचारों को कठोर नियमों में बाँध दिया गया है। यह नियम ब्राह्मणों को उनके उच्च स्थान से पतित होने से रोकते हैं।

केवल ब्राह्मण कुल में जन्म लेने, परन्तु जीवन में ब्राह्मणों के गुण-कर्मों का अभाव होने पर ब्राह्मणत्व का अधिकार छिन जाता है। इतना कहकर अनेक स्थलों पर मनुस्मृति यह बताती है कि ब्राह्मण के गुणों से रहित ब्राह्मणों को ब्राह्मण का आदर देने की आवश्यकता नहीं।

जिन लोगों में रजोगुण का प्राबल्य है अर्थात् जो लोग विशेष रूप से कर्मप्रवण होते हैं, उनकी वृत्तियाँ बहिर्मुखी होती हैं। इसके बावजूद जिनकी कर्मशीलता या बहिर्मुखता सत्त्वगुण की ओर झुकी हुई है, ऐसे लोगों को क्षत्रिय कहा जाता है। शूरता, साहस, उदारता इन गुणों की इनमें विशेष अभिव्यक्ति होती है। भोगप्रवणता के प्राबल्य के कारण ये लोग ब्राह्मणों के समान शान्त तथा सन्तुष्ट रहकर केवल ज्ञानसाधना में ही मग्न नहीं रह सकते।

कर्मशील होने के कारण इन्हें परमात्मपुरुष के भुजाओं की उपमा दी गई है। इस स्वाभाविक कारण से ही इस वर्ण के अधीन प्रजा का शासन, उसकी सुरक्षा, दानधर्म आदि कर्म होते हैं। क्षत्रियों के कर्म और आचार-नियम भी मनुस्मृति में विस्तार से दिए गए हैं। उनकी क्रियाशीलता तथा भोगवृत्ति की वजह से इनके आहार-विहार-विवाह आदि व्यवहारों के जो नियम हैं, वे ब्राह्मणों के लिए बनाए गए नियमों जैसे कठोर नहीं हैं, क्योंकि अपनी रजोगुणी प्रवृत्ति के कारण इनके लिए ब्राह्मणों जैसे बन्धन स्वीकार कर पाना सम्भव नहीं होगा। फिर भी जो कुछ नियम उनके लिए बताए गए हैं उनका पालन करते तथा ब्राह्मणों को सम्मान देते हुए वे अपने कर्तव्य पूरे करें और उसी के द्वारा क्रमशः विकसित होकर वे अधिकाधिक सत्त्वगुण में प्रतिष्ठित होंगे।

जिनका रजोगुण अर्थात् कर्मशीलता सुस्ती, अज्ञान, प्रमाद आदि तमोगुणों की ओर झुकी हुई है, ऐसे लोग वैश्य वर्ण के अन्तर्गत आते हैं। समाज में ऐसे लोग भी बड़ी संख्या में रहते हैं। पैसा अर्जित करना, दान करना, कृषि-वाणिज्य, साहूकारी

आदि कर्म ये लोग स्वाभाविकता के साथ कर सकते हैं। इन कर्मों से सम्बद्ध सहज ज्ञान इस प्रवृत्ति के लोगों को बहुत शीघ्र हो जाता है। किन्तु शुद्ध ज्ञान के बारे में इन्हें आस्था शायद ही होती है। इनकी क्षमता को देखते हुए मनुस्मृति ने इनके आचारों पर और भी कम बन्धन रखे हैं। समाज का पोषण करने में इनके महत्त्वपूर्ण योगदान को देखते हुए इन्हें यदि जंघा (लक्ष्यार्थ से पेट) कहा जाय, तो वह उचित ही होगा। यह वर्ण भी अपना स्वभाव-सिद्ध कर्म करते हुए क्रमशः अपना विकास करके ब्राह्मणत्व की उपलब्धि कर सकता है।

इनके अलावा ऐसे भी कुछ लोग होते हैं, जिनमें तमोगुण का ही प्राबल्य होता है और उसका झुकाव रजोगुण की ओर रहता है। आलस्य, अज्ञान, विवेकहीनता आदि इनके स्थायी भाव हैं। स्वतः प्रवृत्त हो कर्म करना इन्हें बड़ा कष्टप्रद तथा अप्रिय लगता है। औरों को उनसे काम करवा लेना पड़ता है। इस कारण इनके लिए उपाय है सेवा करना। स्मृतिकारों ने इनके आहारादि आचरणों पर प्रायः कोई भी प्रतिबन्ध नहीं लगाये है। तमोगुण से प्रभावित इस शूद्र वर्ण में ज्ञानार्जन की ओर आकर्षण बिलकुल भी नहीं दिखता। परन्तु ऐसी बात नहीं कि इनके उन्नति की कोई आशा ही न हो। अपने कर्मों का उचित प्रकार से आचरण करते हुए ये लोग भी अपनी प्रगति के पथ पर अग्रसर होकर मानवजीवन के सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य — मुक्ति — को प्राप्त कर सकते हैं। मानवों की स्वाभाविक विविधता के अनुसार उनके शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक क्षमताओं का सूक्ष्म विकास करके, उनमें से प्रत्येक का कल्याण हो — इस दृष्टि से उनके कर्तव्यों का निर्धारण करनेवाली इस मनुस्मृति द्वारा दी गयी व्यवस्था को बेजोड़ ही कहना होगा। कोई भी कर्म वास्तव में श्रेष्ठ अथवा निकृष्ट नहीं होता। जिस कर्म के द्वारा कोई अपने 'मोक्ष' रूपी सर्वोच्च ध्येय की ओर अग्रसर हो सके, वही कर्म उसके लिए श्रेष्ठ है और वही उसका स्वाभाविक कर्म है — भगवद्गीता की भाषा में वही उसका 'स्वधर्म' है।

वर्णव्यवस्था की समीक्षा

अपने स्व-स्वरूप परमात्मा से युक्त होकर मुक्ति की प्राप्ति ही इस वर्णव्यवस्था का उद्देश्य है और कर्म उसका साधन है। इस उद्देश्य को यदि ध्यान में नहीं रखा गया, तो मनुस्मृति का यह सिद्धान्त प्रत्येक वर्ग को अन्यायपूर्ण लग सकता है। यदि भोग को ही जीवन का प्रधान उद्देश्य मानकर चलें, तब तो कहना होगा कि मनुस्मृति ने ब्राह्मणों पर ही सर्वाधिक अन्याय किया है। क्योंकि उसी की भोगस्पृहा पर सर्वाधिक बन्धन डाले गए हैं। सत्ता की प्राप्ति तथा बड़े-बड़े कार्य सम्पन्न करना

ही यदि हम जीवन का ध्येय मानकर चलें, तो फिर क्षत्रियों को ही इसके लिए सर्वाधिक सुविधाएँ प्रदान की गई हैं — उन पर राज्य-शासन आदि कर्मों का भार सौंपा गया है; और शूद्रों पर तो बड़ा ही अन्याय किया गया है; उन्हें सत्ता का बिलकुल अधिकार नहीं दिया गया। इतिहास हमें दर्शाता है कि जो राष्ट्र या समाज केवल भोगतृप्ति को ही अपना ध्येय मानकर चले और यद्यपि प्रारम्भ में तृणराशि में लगी हुई आग के समान भले ही विशाल रूप धारण कर लिया हो, तथापि अल्पावधि में ही वे अस्तित्वविहीन हो गए। परन्तु भोगों को त्यागने और मुक्ति को ही श्रेय मानकर चलनेवाली भारतीय संस्कृति कालचक्र से टक्कर लेती हुई हजारों वर्षों के बाद आज भी जीवित है। मनुस्मृति का एक प्रसिद्ध वचन है —

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते। (२/९४)

— जिस प्रकार अग्नि में घी डालने से, वह शान्त होने की जगह और भी भड़क उठती है, वैसे ही भोग करने से कामनाओं का उपशम होने के स्थान पर वे और भी ज्यादा प्रबल हो उठती हैं। आगे चलकर महाभारतादि अनेक ग्रन्थों में उद्धृत किया गया यह वचन प्रत्येक सचेत भोगप्रवृत्त व्यक्ति का कटु अनुभव ही सजीव शब्दों में प्रस्तुत करता है और इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि कामनाओं को संयमित करके अन्ततः उन्हें नष्ट कर डालना ही श्रेयस्कर है।

इस प्रकार कामनाओं को नियंत्रित, प्रशमित कर परमात्मा का साक्षात्कार कर लेने के उद्देश्य से मनु आदि ऋषियों द्वारा प्रचलित किया हुआ समाज का अनुशासन सत्य पर आधारित है, इसीलिए समय के कठोर आघातों को भी वह सहज ही झेल सका। क्षणभंगुर भोगों की मरीचिका का अनुसरण करनेवाले समाजिक नियम चाहे जितने भी मोहक तथा लुभावने क्यों न रहे हों, पर वे देखते-ही-देखते लुप्त हो गए।

मनुष्य को स्वकर्म (अर्थात अपने स्वभाव के अनुरूप और उसके फलस्वरूप अपने चित्त की शुद्धि में सहायक कर्मों) को छोड़कर अन्य प्रकार के कर्म करने की प्रवृत्ति क्यों होती है? इसका कारण है उसकी भोगस्पृहा तथा इसमें वर्धमान तमोगुण। माया का प्रभाव ही ऐसा है कि वह मनुष्य के यथार्थ स्वत्व अर्थात् ईश्वरत्व को आच्छादित कर उसे अपने स्वत्व की प्राप्ति की ओर प्रवृत्त ही नहीं होने देती। बल्कि उल्टे वह उसे भिन्न भिन्न प्रकार से मोहित कर भोगों के पीछे लगा देती है। माया के प्रभाव के कारण मनुष्य अपने अंतर में विराजित सुख-स्वरूप परमात्मा की ओर न जाकर, ऐसे भोगों के पीछे लगता है, जिसके फलस्वरूप उसे दुःख तथा हताशा

ही प्राप्त होती है; और इसी कारण अपने हाथ का स्वकर्म (स्वधर्म) छोड़कर वह दूसरा कर्म (परधर्म) अपनाना करना चाहता है। भोगों का लक्षण ही कुछ ऐसा है कि वे 'दूसरे' प्रकार के ही अच्छे लगते हैं। इसलिए स्वधर्म को त्यागकर परधर्म स्वीकार करने की ही इच्छा होती है। ब्राह्मण को अपने कठोर आचार-नियमों को त्यागकर नौकरी करने तथा पैसा कमाने की इच्छा होती है, तो शूद्र को वेदाध्ययन की कामना होती है। परिणामस्वरूप दोनों का ही आध्यात्मिक दृष्टि से अधःपतन होता है। शूद्र स्वभाव का व्यक्ति वेदाध्ययन तो कर ही नहीं सकता, और यदि वह ऐसा दुस्साहस करे भी, तो वह अपने हाथ का कर्म — जिसे कि वह ठीक से कर सकता था, उसे भी नहीं कर सकता। दूसरी तरफ ब्राह्मण भी धनलिप्सा के कारण अपने उच्च स्थान से भ्रष्ट होकर क्रमशः शूद्रत्व को प्राप्त होता है। धन का आकर्षण, लौकिक सुखों से लगाव — इनके कारण विद्या से पकड़ चली जाती है। संस्कृत में एक सुन्दर सुभाषित है —

सुखार्थिनः कुतो विद्या विद्यार्थिनः कुतः सुखम् ।
सुखार्थी वा त्यजेत् विद्या विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ।

— जो सुखार्थी है वह विद्या कैसे पाएगा और जो विद्यार्थी है उसे (विद्या छोड़) सुख कहाँ मिलेगा? जिसे सुख की कामना है, वह विद्या की आस छोड़ दे और जो विद्या अर्जित करना चाहता है, उसे सुखों का त्याग कर देना चाहिए।

जैसा कि इतिहास बताता है — ब्राह्मणों में धन और भोग-सुखों की लालसा उत्पन्न होने से उनका ब्राह्मणत्व नष्ट हुआ, उनके पीछे पीछे निचले वर्गों में भी अव्यवस्था फैली और तदुपरान्त वर्ण-व्यवस्था विकृत होकर वंश-परम्परा से उच्च वर्ण के हाथों में निम्न वर्णों को कुचलने का साधन मात्र रह गयी।

व्यास-नारद-वसिष्ठ आदि प्राचीन उदाहरण दर्शाते हैं कि मनुष्य का वर्ण उसके जन्म के आधार पर नहीं, अपितु उसके गुण-कर्मों के आधार पर निर्धारित होता है। उपरोक्त तीन व्यक्तित्वों का जन्म भी ब्राह्मणकुल में नहीं हुआ था, परन्तु अपने गुणों तथा कर्मों के कारण वे सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण की उपाधि से गौरवान्वित हुए थे। किन्तु आगे चलकर जन्म के अनुसार ही वर्णव्यवस्था प्रचलित हुई। वह क्यों?

वर्ण-व्यवस्था जन्म के आधार पर क्यों हुई?

'गुणकर्मविभागशः' जो वर्ण व्यवस्था शास्त्रों में बतायी गई है, उसके जन्म के अनुसार निश्चित होते रहने का कारण केवल व्यावहारिक सुविधा ही है। प्रश्न

उठता है कि जन्म होते ही बालक के गुण-कर्म हम भला कैसे पहचानें? और यदि वे पहचान में नहीं आए, तो फिर हम उसके शिशुकालीन संस्कार कौन से वर्ण के अनुसार करें? इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त कठिन है। और जहाँ स्वयं विचार कर मनुष्य कोई विशिष्ट मार्ग निश्चित नहीं कर पाता, वहाँ वह स्वाभाविक रूप से सरल-सहज दिखने वाले व्यावहारिक मार्ग का अनुसरण करता है। इस प्रकार प्रत्येक वर्ण ने अपनी सन्तानों को भी अपने अपने कर्मों की शिक्षा दी, स्वयं के अनुसार उनके जीवन को भी दिशा देने का प्रयास किया और ऐसा होते होते यह प्रथा प्रचलित हो गयी। वैसे यह प्रथा आदर्श न भी हो, तो केवल इसी कारण सम्पूर्ण वर्ण-व्यवस्था को ही अपनी कठोर आलोचना का लक्ष्य बनाने में कोई तुक नहीं दिखता। आज तो वर्ण-व्यवस्था के बन्धनों का अस्तित्व ही नहीं है, जिसे जो भी व्यवसाय करने की इच्छा हो, वह स्वाधीन है। तथापि प्रायः देखने में आता है कि व्यापारियों के पुत्र व्यापार करने लग जाते हैं, किसानों के लड़के किसान बन जाते हैं, सरकारी कर्मचारियों के पुत्र नौकरी की तलाश में लग जाते हैं और यद्यपि वंशगत राजतन्त्र समाप्त होकर अब लोकतन्त्र की स्थापना हो गयी है, तो भी नेताओं के पुत्र नेतागिरी करने लगते हैं। धनवानों के पुत्र गुणकर्मों के कारण नहीं, तो जन्म से ही धनवान होते हैं और सुसंस्कारों से सम्पन्न माता-पिता के संस्कारों का लाभ प्रायः उनकी सन्तति को भी प्राप्त होता है। बालक का धर्म (हिन्दू, मुसलमान आदि), भाषा, प्रान्त, देश आदि सब तो जन्म के आधार पर ही तो निश्चित होते हैं न! जन्मगत वर्ण-व्यवस्था कितनी भी दोषपूर्ण क्यों न हो, किन्तु जब तक उससे श्रेष्ठतर व्यवस्था हमें नहीं मिलती, तब तक व्यवहार में जन्म के आधार पर ही यह सब निर्धारित होता रहेगा। और इस कारण यद्यपि शास्त्रों ने उसका 'गुणकर्मविभागशः' प्रतिपादन किया है, तथापि व्यवहार में इसका जन्म के आधार पर निर्धारण होने में कोई आश्चर्य की बात नहीं। किन्तु यदि आगे चलकर उसके गुण और कर्म उसके विपरीत दिखाई दें, तो उसका वर्ण बदल डालना ही उचित होगा। जन्म से ब्राह्मण होकर भी यदि कोई तमोगुण से भरा हुआ है और ब्राह्मणों के आचार-नियमों का पालन छोड़कर शूद्रों के आचार में ही रुचि लेता हो, तो उसे शूद्र ही कहना होगा। उसी तरह अगर शूद्र माता-पिता के उदर से जन्म लेकर भी ब्राह्मणोचित्त अध्ययन-अध्यापन, इन्द्रिय-निग्रह, निर्लोभित्व आदि गुण उसमें दिखाई देते हों, तो उसे ब्राह्मण ही कहना होगा।

प्रश्न उठता है मनुष्य को एक विशिष्ट जन्म कैसे प्राप्त होता है? कैसे और किन नियमों के आधार पर वह किसी विशिष्ट कुल में, विशिष्ट माता-पिता के उदर

से ही जन्म लेता है और अन्यत्र नहीं?

जो लोग पुनर्जन्म नहीं मानते और जन्म से ही जीव का प्रारम्भ मानते हैं, ऐसे बुद्धिवादी लोगों के सामने तो यह प्रश्न उठता ही नहीं। अगर जन्म के पूर्व कुछ 'रहता' तो कदाचित उनकी दृष्टि में वह जन्म का कारण बन सकता था। किन्तु जन्म के पूर्व कुछ भी नहीं रहता, ऐसा कहने पर जन्म का कारण पूछने की कोई सुविधा नहीं रही। और इसके साथ ही अनन्त प्रकार के जीवों में जो आश्चर्यकारक विविधता दिखाई देती है, उसका स्पष्टीकरण भी ये लोग दे नहीं पाते। जीव के विकास के प्रक्रिया का खुलासा भी ये लोग कर नहीं सकते। पुनर्जन्म न माननेवालों को इसी प्रकार की और कई समस्याओं को पीठ दिखाना पड़ता है।

बौद्धों तथा जैनियों सहित हिन्दुओं का ऐसा मत है कि जीव की वासना और ज्ञानशक्ति के अनुसार उसे विशिष्ट देह की प्राप्ति होती है तथा विशिष्ट माता-पिता भी मिलते हैं। इस शास्त्रीय प्रक्रिया को समझाना इस लेख का उद्देश्य नहीं है। जिज्ञासु लोगों ने तत्सम्बन्धी ग्रन्थों से उसे समझ लेना उचित होगा। (यथा — छान्दोग्य उपनिषद्, गीता, जातककथा आदि)। यहाँ पर केवल उसके निष्कर्ष मात्र, की ओर हम आपका ध्यान आकृष्ट करेंगे और वह यह है कि व्यक्ति के संस्कार तथा उसके जन्म के बीच एक आन्तरिक सम्बन्ध है। इसलिए व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से जन्म के आधार पर संस्कारों का और फिर उनके द्वारा वर्ण का तत्काल निर्णय करना — बहुत गलत नहीं लगता। परन्तु उस व्यक्ति के विकसित गुण और कर्मों के अनुसार इस निर्णय में आगे चलकर परिवर्तन भी होना चाहिए, क्योंकि गुण और कर्म ही इस विषय में सर्वश्रेष्ठ प्रमाण हैं।

आत्मा का प्रकाश

अगर तुम्हारे कमरे में अँधेरा है, तो तुम छाती पीट पीटकर यह तो नहीं चिल्लाते कि हाय, अँधेरा है, अँधेरा है, अँधेरा है। अगर तुम उजाला चाहते हो, तो एक ही रास्ता है, तुम दिया जलाओ और अँधेरा अपने आप चला जायेगा। तुम्हारे ऊपर जो प्रकाश है, उसे पाने का एक ही साधन है – तुम अपने भीतर का आध्यात्मिक प्रदीप जलाओ, पाप और अपवित्रता का तमिस्र स्वयं भाग जायगा। तुम अपनी आत्मा के उदात्त रूप का चिन्तन करो, गर्हित रूप का नहीं।

— स्वामी विवेकानन्द